सृष्टि-तत्त्व
तथा
राजा एवं प्रजा

लेखक
भार्गव शिवरामकिंकर योगत्रयानन्द

अनुवादक
एस. एन. खण्डेलवाल

सृष्टि-तत्त्व तथा राजा एवं प्रजा

लेखक

भार्गव शिवरामकिंकर योगत्रयानन्द

(पूर्वनाम : शशिभूषण सान्याल)

अनुवादक

एस०एन० खण्डेलवाल

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

निवेदन

राजा तथा प्रजा का शारीरयन्त्र से तथा जगत् सृष्टि उपक्रम से सामञ्जस्य का अलौकिक विवरण परमपूज्य लेखक ने प्रस्तुत करके अपनी समन्वीय दृष्टि का उदाहरण प्रस्तुत किया है। विज्ञान, व्याकरण, सांख्य, वेद आदि का उद्धरण देकर इस ग्रन्थ में एक अभिनव दिशा की ओर संकेत दिया गया है, जिसके सम्बन्ध में कोई किसी भ्रम अथवा प्रश्नचिह्न के लिए कोई अवकाश ही नहीं रह जाता। यह धर्ममेघ समाधि का प्रतिफल है। जहाँ 'धर्मान् मेहति वर्षति' धर्म की ही वर्षा होती है, परन्तु यहाँ जिस धर्म का आश्रयण है, वह लौकिक भाषा से तथा लौकिक रूप से प्रतिच्छवित हो रहा भेदकारक धर्म नहीं है। इस धर्मदृष्टि का आश्रय लेने से राजा तथा प्रजा का जो अभिनव सम्बन्ध, शाश्वत सामञ्जस्य प्रतिफलित होता है, वही शासक तथा शासित का यथार्थ रूप है।

यह ग्रन्थ क्षुद्र कलेवर होने पर भी गहन अर्थ स्वयं में सँजोये हुए है। इसके वक्ता तो अविभ्रान्त रूप से ज्ञाननिधि थे, इसका पाठक (श्रोता) भी ज्ञाननिधि होना चाहिए। 'श्रोता वक्ता ज्ञाननिधि कथा राम कर गूढ़' तभी इस मणिकांचन संयोग से इसके गूढ़ गम्भीर अर्थ का उद्‌घाटन हो सकेगा। जो जितनी गहरी डुबकी लगा सकेगा, वह उतने ही अमूल्य रत्नों का आहरण कर सकेगा, यह सत्य है।

इस ग्रन्थ के भाषानुवाद का प्रकाशन करके विश्वविद्यालय प्रकाशन के अधिष्ठातागण ने प्रशंसनीय कार्य किया है और एक महान् चिन्तक, सिद्ध तथा परम त्यागी की लोकोपयोगी दृष्टिभंगी से जिज्ञासु पाठकों को परिचित कराने का महनीय प्रयास किया है। इसके लिए मैं उनकी अभ्यर्थना करता हूँ।

देवोत्थान पर्व, 2009 ई० —एस०एन० खण्डेलवाल
बी 31/32, लंका, वाराणसी

विषयानुक्रमणिका

॥ श्री गुरवे नमः ॥

॥ श्री ब्रह्मणे नमः ॥

प्रथम परिच्छेद

सृष्टि-तत्त्व

कार्य का कारणानुसंधान मानव का स्वभावसिद्ध धर्म है। 'किं रव' (यह क्या है? का रव) मानव ही करता है। पश्वादि इतर जीवसमूह यह॰रव (किं रव) नहीं कर सकते। प्रकृति ने उनको यह अधिकार नहीं दिया है। विवेक-शक्ति का विकास न होने से 'किं रव' नहीं हो सकता। 'किं' पद का अर्थ है जिज्ञासा ज्ञापक शक्ति[1]। अपनी जिज्ञासा को बताने के लिए हम 'किं' पद घटित प्रश्न वाक्य का प्रयोग करते हैं। हम जो अनुभव करते हैं, इन्द्रियद्वार में जो अनुभूत होता है, उसका कारण क्या है? जिज्ञासा-मात्र का यही स्वरूप है। पश्वादि इतर जीवसमूह में 'किं' रव की योग्यता नहीं है। विवेक अथवा विशिष्ट ज्ञान का उदय हुए बिना जिज्ञासा उदित नहीं होती। पश्वादि में विवेक-शक्ति का विकास न होने का क्या कारण है? सत्वगुण की अल्पता के कारण उनमें विवेक-शक्ति अविकसित रह जाती है। समीकरण-शक्ति, विवेक-शक्ति तथा धारणा-शक्ति को मन की त्रिविध शक्ति कहा गया है। चिन्तनादि मानस व्यापार इन्हीं त्रिविध शक्ति से निष्पादित होता है।[2] पश्वादि इन त्रिविध शक्ति का अभाव अथवा अल्पता होने के कारण संकीर्ण चेतन हो गये हैं। समीकरण-शक्ति, विवेक-शक्ति तथा घृति-शक्ति संयम अथवा निरोध शक्ति

---

1. "किं पदस्य जिज्ञासिते शक्तिः, अतएव स्वीयजिज्ञासा ज्ञापनाय किं पदघटित प्रश्नवाक्यं प्रयुज्यते" —गदाधर-कृत शक्तिवाद
2. They are substantially as Professor Bain has stated them (a) The power of discrimination. (b) The power of detecting indentity. (c) The power of retention.
   "We exert the first power in every act of perception. Hardly can we have a sensation or feeling unless we discriminate it from something else which proceeded. Consciousness would almost seem to consist in the break between one state of mind and the next, just as an induced current of electricity arises from the begining or the ending of the primary current. We are always engaged in discrimination; and the rudiment of thought which exists in the lower animals probably consists in their power of feeling difference and being agitated by it. Yet had we power of discrimination only. Science could not be created."
   —*The Principles of Science* by Stanley Jevons, Page 4

मूलक हैं। पश्वादि में निरोध-शक्ति से प्रबलतर है व्युत्थान शक्ति। योगवाशिष्ठ में इसीलिए कहा गया है कि त्रिर्यगादि लिंग तथा स्थूल, इन दोनों देह के समप्राधान्य के कारण जड़-चेतन होते हैं। मनुष्य में जो कार्य के कारणानुसंधान से विमुख हैं, शास्त्र ने उनको भी आसन्न चेतन कहा है। अतएव ब्राह्मणादि वर्ण भेद के नीचोत्तम निर्द्धारणार्थ हमारे राजाओं ने क्यों यत्न किया है, मननशील मानव की यह जिज्ञासा होना प्राकृतिक है।

प्रतिभाभेद से मतभेद होता है, यह विदित हो गया। ब्राह्मणादि वर्णभेद के नीचोत्तमत्व के निर्धारणार्थ राजा का यत्न क्यों हैं, इसे जानने के लिए प्रवृत्त होने पर स्व-स्व प्रतिभानुसार लोगों ने नाना सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। यह ज्ञात होता है। ''हमलोग ऐक्य पदार्थ हैं। हमारे बीच कलहोत्पादन के लिए हमारे राजाओं ने ऐसा किया है।'' हममें से बहुत से लोग इस प्रकार का मत रखते हैं, जिसे श्रवण किया। रामभक्त हिन्दू के हृदय में ऐसा मत प्रकाशित करने की योग्यता कैसे उत्पन्न हो सकी? जो हिन्दू राजा को ईश्वर मानकर पूजते हैं, विश्वास करते हैं, सभ्यता की उच्चतम सोपान पंक्ति में समारूढ़ डारविन, स्पेन्सर प्रभृति विद्वानों द्वारा असभ्य ज्ञान में अग्रगणित अथवा बर्बर बोध में उपेक्षित होने पर भी हिन्दू जाति राजा को देवता भिन्न अन्य दृष्टि से नहीं देख पाती। उस हिन्दू जाति में अब विजातीय संस्कार-बीज किसने बो दिया? वेद की आज्ञा का लंघन करके, पुराणेतिहास के उपदेश को अग्राह्य करके, नीति तथा धर्मशास्त्र के उपदेश की उपेक्षा करके, हिन्दू जाति आज प्रजावत्सल राजव्यवहार में दोष दर्शनार्थ क्यों प्रवृत्त हो गयी? उस नवशिक्षित समाज के लोगों का यह मत कि ''हमारे ऐक्य को समाप्त करने के लिए राजा ने ब्राह्मणादि वर्णभेद नीचोत्तम निर्धारणार्थ किया है'' हमारे मन में प्रश्न उदित करता है। अपनी प्रतिभा के अनुसार इसके समाधान का प्रयास करूँगा।

उक्त प्रश्न के समाधान में प्रवृत्त होने मात्र से राजा तथा प्रजा, इनका स्वरूपदर्शन हुए बिना इसका यथोचित् समाधान सम्भव नहीं है। राजा तथा प्रजा का स्वरूपावलोकन करने के लिए इनकी परस्पर विसदृश दो प्रतिकृति हमारे सामने प्रतिच्छवित हो रही है। प्रथम है वेदशास्त्र चित्रित, द्वितीय है सुसभ्य पाश्चात्य कोविदकुल द्वारा अंकित। इन दोनों में किसी-किसी अंश में कुछ सादृश्य रहने पर भी अनेकांश में अत्यन्त वैसादृश भी है। हमारी यही धारणा है। इस प्रकार की धारणा सत्य है क्या? भ्रान्तिविजृम्भित इसकी अवधारणा हमारे लिए साध्यातीत है, साध्य नहीं है। पहले यह विवेचना होगी कि राजा तथा प्रजा के सम्बन्ध में पाश्चात्य कोविदकुल द्वारा अंकित प्रतिकृति को हम किस प्रकार देखते हैं, तदनन्तर इनकी वेदादिशास्त्र चित्रित प्रतिकृति का वर्णन होगा, जो हमारे चित्त पर प्रतिफलित है।

राजा तथा प्रजा का विज्ञानांकित रूप

राजा तथा प्रजा का विज्ञानांकित रूप कहने से हम क्या लक्ष्य करते हैं? विज्ञान कौन पदार्थ है? वैज्ञानिकगण यथातथ्य प्रमाणीकृत तथा व्यवस्थित ज्ञान (Exact, verified and systematic knowledge) को विज्ञान कहते हैं। यथातथ्य ज्ञान (Exact, verified and systematic knowledge) कहने से वैज्ञानिक क्या समझते हैं? यथातथ्य ज्ञान कहने से वैज्ञानिक भूतार्थ भूमिक (Based upon facts), विश्वास अथवा कल्पना से विशिष्ट (Different from faith and fancy) ज्ञान को समझते हैं। ग्रह, देव, देवी से हमारा अदृष्ट अथवा भाग्यचक्र नियामित होता है, इस प्रकार का विश्वास अथवा कल्पना वैज्ञानिकों की दृष्टि में यथातथ्य ज्ञान नहीं है। यही कारण है कि वैज्ञानिक फलित ज्योतिष को विज्ञान नहीं मानते। यथातथ्य ज्ञान मात्र ही विज्ञान नहीं है। पशु-पक्षी का नैसर्गिक ज्ञान अथवा मानव की सहज विशिष्ट प्रतिभा विज्ञान नहीं कही जा सकती। जो ज्ञान प्रमाणीकृत नहीं है, यथातथ्य होने पर भी उसे विज्ञान नहीं कहा जा सकता। शिल्पकार तथा कलाकार विविध यन्त्र-निर्माण कर लेते हैं, कर्म-कुशल चिकित्सकगण उपयुक्त भेषज प्रयोग से अनेक रोग प्रशमित कर देते हैं, तथापि वैज्ञानिक नहीं कहलाते। विद्वान् स्पेन्सर कहते हैं कि साधारण कार्यकारण का निर्णय विज्ञान का आद्यकार्य है। विशिष्ट कार्य-कारण सम्बन्ध निर्णय विज्ञान का अन्त्य कार्य है। किस प्रकार की घटना अथवा कार्य किस प्रकार की निर्दिष्ट अवस्था में संघटित हो सकता है, इसका निरूपण प्राथमिक विज्ञान निष्पत्ति है। अनागत घटनापुंज का परिमाणात्मक अवधारण चरम् विज्ञान साधन माना गया है।

अपुष्ट विज्ञान है, साधारण प्रकारक पूर्व दर्शन (Qualitative pervision), परिपुष्ट विज्ञान है (Developed Science) परिमाणात्मक भविष्य दर्शन (Quantative prevision)। विद्वान् टेट (Prof. P.G. Tait) भौतिक विज्ञान के स्वरूप-प्रदर्शनार्थ कहते हैं कि प्राकृतिक घटनापुंज तथा उसका पूर्ववर्ती भौतिक भाव समूह इन दोनों का सम्बन्धात्मक ज्ञान, अर्थात दृग्गोचर प्राकृतिक घटनाओं का कार्यकारण सम्बन्धबोध ही भौतिक विज्ञान (Physical Science) है। जब यह कार्यकारण सम्बन्ध ज्ञान गणित (Mathematics) की सहायता से निर्णीत होता है, देशतः तथा कालतः अथवा संख्यातः परिच्छिन्न होता है, तभी परिपुष्ट अथवा विशुद्ध विज्ञान का आविर्भाव होता है। विद्वान् काण्ट (Kant) संश्लेषात्मक विवेक (Synthetic Judgement) को विज्ञान (Scientific Knowledge) कहते हैं।

विज्ञान का लक्षण ज्ञात हो गया। अब विज्ञान की अभिव्यक्ति कैसे होती है तथा विज्ञानरूपी विटप की कितनी शाखाओं की गणना वैज्ञानिक करते हैं, विज्ञान के श्रेणीविभाग के सम्बन्ध में वैज्ञानिक क्या सिद्धान्त निश्चय करते हैं? यह जानना होगा।

ज्ञानमात्र ही प्रत्यक्ष से जन्म-लाभ करता है। प्रत्यक्ष से हम जो कुछ अनुभव करते हैं, उसमें संस्कार ही विज्ञान का बीज है। इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजनित क्रिया का संस्कार ही चित्त के क्षेत्र में विज्ञान बीज का निषेक करता है, चित्त की संकल्पशक्ति इस बीज समूह से विज्ञानवृक्ष का प्रसव करती है।[1] विद्वान् जेवन्स (Jevons) कहते हैं, विशेष-विशेष भावसमूह में साम्यभाव का आविष्कार होने से विज्ञान का उदय होता है। हर्शल (Harshel) प्रभृति विद्वान् कहते हैं, दर्शन तथा परीक्षा (Observation and Experiment) से विज्ञान की उत्पत्ति होती है, तथापि यह एक व्यक्ति, एक जाति, एक वंश के दर्शन तथा परीक्षा का फल नहीं है। यह सकल मानवजाति के सर्वकालीन ग्रन्थ अथवा पुरुष परम्परा प्रत्यक्षादि का फल है।[2]

विज्ञान के श्रेणीविभाग (Classification) के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों में मतभेद है। विद्वान् आगस्ट कामत (August Comte) ने निखिल प्राकृतिक विज्ञान (Natural Philosophy) को प्रथमत: अमूर्त्त भौतिक विज्ञान तथा मूर्त्त भौतिक विज्ञान (Inorganic Physics and Organic Physics), इन दो प्रधान शाखाओं में बाँटकर तत्पश्चात् उनका अवान्तर शाखा विभाग किया है। विद्वान् कामत का अमूर्त्त भौतिक विज्ञान (Inorganic Physics) दिव्य अथवा अमूर्त्तभूत तन्त्र तो ज्योतिष ज्यामितिक तथा यान्त्रिक विज्ञान (Both Geometrical and Mechanical) सम्मूर्च्छित है। मर्त्यभूत तन्त्र भी यन्त्र विज्ञान तथा रसायन विज्ञानात्मक है। मूर्त्त भौतिक विज्ञान (Organic Physics) की जीवविज्ञान (Biology) तथा सामाजिक विज्ञान (Sociology) रूप दो शाखाएँ हैं। उद्भिद् विद्या जीवविज्ञान के अन्तर्भूत है।

मनोविज्ञान को कामत जीवविज्ञान से स्वतन्त्र नहीं कहते। गणित को अन्यान्य सर्व प्रकार के विज्ञान का मूल तथा प्रभव (Foundation and Source) स्वतन्त्र विज्ञान कहा गया है। इनके मत से समाजविज्ञान, जीवविज्ञान, रसायनविज्ञान, मर्त्य भूततन्त्र, रसायनतन्त्र, ज्योतिष तथा गणित—ये विज्ञानरूपी विटप की छ: विशिष्ट शाखाएँ हैं। भूततन्त्र (Physics), रसायनतन्त्र, जीवविज्ञान—ये समाज-विज्ञान के शरीर हैं। समाजविज्ञान को कामत सामाजिक भूततंत्र (Social

---

1. All knowledge proceeds originally from experience... As the word experience expresses, we go through much in life, and the impressions gathered intentionally or unintentionally offered the materials from which the active powers of the mind evolve science. —*The Principle of Science* by Jevons, Page 399
2. We have thus pointed out to us, as the great, and indeed only ultimate source of our knowledge of nature and its laws. Experience, by which we mean, not the experience of one man only, or of one generation, but the accumulated experience of all mankind in all ages, registered in books or recorded by tradition. —Sir John Herschel, Page 76

Physics) कहते हैं। राजा तथा प्रजा के सम्बन्ध में निर्णय समाजविज्ञान द्वारा ही करना होगा। कारण, यह समाजविज्ञान का ही प्रतिपादित विषय है। विद्वान् हर्बर्ट स्पेन्सर कामत के विज्ञान श्रेणीविभाग को दोषयुक्त मानकर त्याग कर देते हैं। विद्वान् स्पेन्सर अवकृष्ट (Abstract), अवकृष्ट समवेत (Abstract Concrete) तथा समवेत (Concrete) रूप से विज्ञान को तीन प्रधान भाव में विभक्त कर रहे हैं। इनके मत से तर्कशास्त्र (Logic), गणित, अवकृष्ट विज्ञान (Abstract Science) है। यन्त्र विद्या (Mechanics), भूततन्त्र (Physics) अवकृष्ट समवेत विज्ञान (Abstract Concrete Science) हैं। ज्योतिष (Astronomy), भूविद्या (Geology), जीवविज्ञान (Biology), मनोविज्ञान (Psychology) तथा समाजविज्ञान समवेत विज्ञान (Concrete Science) है। अध्यापक बेन (Bain) ने न्याय (तर्कशास्त्र), गणित, यन्त्रविज्ञान, आणविक भूततन्त्र (Molecular Physics), रसायनशास्त्र, जीवविज्ञान तथा मनोविज्ञान (Psychology), विज्ञान को इन सात भागों में विभक्त किया है।

दार्शनिक विद्वान् हेगल (Hegel) ने न्याय (तर्कशास्त्र), प्राकृतिक विज्ञान (Philosophy of Nature) तथा मनोविज्ञान (Psychology of Mind) रूप से दर्शनशास्त्र को भागत्रय में विभक्त किया है। हेगल के मत से ज्योतिषिक सृष्टि (Astronomical Cosmos) भौतिक समाज, मानव समाज का पूर्व सूत्र है।[1]

राजा तथा प्रजा के विज्ञानांकित रूप से हम क्या लक्ष्य करते हैं, इसे समझाने के लिए विज्ञान कौन पदार्थ है, विज्ञान का क्या कार्य है, विज्ञान की कितनी प्रकार की शाखाएँ हैं? पहले इन सब विषय का अवलम्बन लेकर कुछ कहना आवश्यक है, इसीलिए इन सब विषय का संक्षिप्त रूप यहाँ हमने प्रदान किया है। शासक तथा प्रजा के विज्ञानांकित रूप को कहने में भूततंत्र, रसायनतंत्र, गणित तथा जीवविज्ञान प्रधानतः इन चार विज्ञानों की सहायता से चित्रित रूप को लक्ष्य किया गया है।

परिदृश्यमान जगत् में क्या है? किस-किस वस्तु की सत्ता हमारे ज्ञान के विषयीभूत हो सकती है, प्रत्यक्ष प्रमाण निर्णय में प्रकृति गर्भ में विद्यमान पदार्थों का प्रयोजन क्या है, साथ ही जो सब पदार्थ हमारे ज्ञान के विषयीभूत होते हैं, उन्हें हम जिस प्रकार से गठित तथा सम्मूर्च्छित देखते हैं, वे उस प्रकार से परिच्छिन्न क्यों हैं? यह सब अनुसन्धान प्रकृति विज्ञान करता है। हम क्या जान सकते हैं, किस प्रकार से जान सकते हैं, हम क्यों जानने के लिए इच्छुक हैं, ज्ञान का उद्देश्य अथवा व्यवहार क्या है? दर्शनशास्त्र का इन तीन प्रश्नों के समाधान का ही उद्देश्य रहता है।

---

1. The Astronomical Cosmos is an elementary society which anticipates human society.
— *History of Philosophy* by Hegal, Page, 511

भूततन्त्र अथवा रसायनतन्त्र अणु तथा परमाणुओं के आकर्षण तथा विप्रकर्षण व्यापार का ही वर्णन करता है। भूत (Matter) तथा भौतिक शक्ति का तत्त्व-निरूपण ही भूततन्त्र तथा रसायनतन्त्र का उद्देश्य है। अणु तथा परमाणु परस्परतः संयुक्त तथा वियुक्त होते हैं। संयोग तथा विभाग (वियोग) ही कर्म का रूप है। बिना कारण कार्य संघटित नहीं होता। बिना प्रयोजन किसी की कर्मप्रवृत्ति नहीं होती। अणु तथा परमाणु परस्पर संयुक्त वियुक्त हो रहे हैं, उनका कारण क्या है? अथवा ये मनमाने तरीके से यह सब कर रहे हैं? भूततन्त्र तथा रसायनतन्त्र ने इन सबकी जिज्ञासा का उत्तर देने के लिए स्थिर किया है कि अणु तथा परमाणु समूहों में आकर्षण-विकर्षण शक्ति है। इन दोनों शक्ति के कारण ये परस्परतः संयुक्त तथा वियुक्त होते हैं। अणु समूह कभी परस्पर आकृष्ट होते हैं, कभी विप्रकृष्ट होते हैं, इसका कारण क्या है? रासायनिक आकर्षण-विकर्षण, आणविक आकर्षण-विकर्षण से भिन्न धर्माक्रान्त क्यों है, इत्यादि प्रश्न का अभी भी समाधान नहीं हो सका है। हमारा विश्वास है कि कभी भी समाधान नहीं होगा।

यह विज्ञान परिच्छिन्न प्रकृति का ही तत्वानुसंधान करता है। विज्ञान यदि विज्ञेय पदार्थ से अलग नहीं है, यदि विज्ञान परिच्छिन्न प्रकृति तत्त्व-निरूपण करते समय स्वीयभाव (अपने भाव) को भूल कर ज्ञेयाकार में भासमान होने लगे, तब इन प्रश्नों का समाधान कैसे होगा? जो अकृतज्ञ हैं, उनमें कभी भी विशुद्ध प्रज्ञा का उदय नहीं होता। आधुनिक विज्ञान के समान अकृतज्ञ पदार्थ क्या कोई दूसरा भी है, यह पता नहीं (अर्थात् यह अकृतज्ञ है)। जिसकी कृपा से विज्ञान को 'विज्ञान' नाम मिला, जड़ तथा अज्ञानी की तुलना में विज्ञान को अधिक सम्मान मिला, यह विज्ञान तो उसी चिच्छक्ति के अस्तित्व को नहीं मानता! उसके अस्तित्व का विलोप करने को प्रस्तुत है। वह चिच्छक्ति के स्वातंत्र्य को भी नकार दे रहा है। इसीलिए यह कहना है कि आधुनिक विज्ञान के समान अकृतज्ञ, संकीर्णचेता, हेय स्वार्थपर दूसरा कोई नहीं है। जिस विज्ञान में इतनी संकीर्णता है, इस प्रकार का परिच्छिन्न सत्व है, क्या प्रकृत सत्य के रूपदर्शन की योग्यता उसमें रह सकती है? ज्ञान से दूर आ जाने के कारण विज्ञान अपने जन्मदाता को भूल गया है।

चन्द्रमा अपनी प्रभा से प्रकाशमान है। जब वह प्रभाकर से दूर सप्तम राशि में आता है, तभी उसकी अहं बुद्धि का पूर्ण विकास होता है। तभी वह गर्व के साथ जगत् को निजरूप, अपना स्वतंत्र अस्तित्व प्रदर्शित करता है। किन्तु जब वह प्रभाकर (सूर्य) के समीप हो जाता है, तब उसका जितना भी गर्व है, वह तथा स्वतंत्रता का बोध विलीन हो जाता है। तब वह कहता है प्रभाकर तुम ही सत् हो, हम तुम्हारे ही प्रकाश से प्रकाशित हैं, हमारा स्वतंत्र प्रकाश नहीं है, वह लज्जित रूप से यह कहकर अपने स्वरूप को छिपा लेता है। इसीलिए यह कहना है कि आज विज्ञानरूपी चन्द्रमा बहुत दूर आ गया है।

भूततन्त्र तथा रसायनतन्त्र ने आकर्षण-विकर्षण को सब प्रकार के भौतिक तथा रासायनिक परिणाम के कारण रूप से अवधारित किया है। जहाँ तक समझ में आया है, तदनुसार यह कहना है कि उस आकर्षण-विकर्षण के स्वरूप को विज्ञान ने आज तक निश्चित नहीं किया है। इनमें वस्तुतः दो पृथक् सामग्री नहीं है। ये एक महाकर्षण तथा संकर्षण-शक्ति के दो परिच्छिन्न रूप मात्र हैं। जिससे यह कहना है कि एक ही आकर्षण-शक्ति परिच्छिन्न होकर आकर्षण-विकर्षण रूप दो आख्या को प्राप्त है। ऋग्वेद संहिता का कथन है कि ''सर्वव्यापक विश्वसविता परमात्मा ही अखिल जागतिक पदार्थ का, अखिल परिच्छिन्न सत्व का केन्द्र है। वह सब पदार्थ का आकर्षण करता है। हे इन्द्र! हे सर्वशक्तिमय परमेश्वर! द्योतमान सर्वप्रेरक, शोभनवीर्य आदित्य की तुमने ही सृष्टि की है। विश्वकारण! तुम ही विश्व की संकर्षण-शक्ति हो। तुम्हारी शक्ति से ही विश्व घृत है।''[1] जैसे सूर्य के आकर्षण से पृथिव्यादि सभी लोक समाकृष्ट होते हैं, विश्वसविता परमेश्वर के आकर्षण से इसी प्रकार सूर्यादि सभी लोक नियमित होते हैं।

पारमाणविक आकर्षण, आणविक आकर्षण, मध्याकर्षण इत्यादि एक सर्वव्यापक महाकर्षण शक्ति का ही अंगप्रत्यंग रूप, उसी का अवान्तर भेद है।[2] मानव के भाग्य से जब इस ज्ञान का विकास होता है, तभी उसके हृदय में सर्व सन्तापनाशिनी, भक्ति देवी प्रकाशित हो जाती हैं। तभी मानव की बहिर्मुखी वृत्ति अन्तर्मुखी होती है। तभी व्युत्थान शक्ति का अभिभव तथा निरोधशक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। तभी मानव मातृक्रोड़ से विच्युत शिशु के समान माँ-माँ पुकारते-पुकारते जननी के शान्तिमय अंकान्वेषण में प्रवृत्त होता है। ऋग्वेद संहिता का कथन है कि अरण्य में संचरणशील गो-समूह सूर्य के अस्तमित होने पर जैसे शीघ्र ग्राम में आता है, जैसे योद्धा युद्धार्थी होकर घोड़े के समीप जाता है, जैसे दुधारू गाय रंभाने का शब्द करते हुए अपने बछड़े की ओर दौड़ती है, पति जैसे अपनी पत्नी की ओर गमन करता है, उसी प्रकार ''द्युलोकादिधारक हे विश्ववार, हे सर्वजनरमणीय, सर्वजन इप्सिततम, हे परमेश्वर, तुम हमें प्राप्त हो जाओ, हमारे पास आओ, तुम हमारा आकर्षण करो, हमें अपने चिन्तामणि गृह में ले चलो। हम स्वयं तुम्हारे पास आने में सक्षम नहीं हैं। दयामय हम अन्ध हैं। हम चलने की शक्ति से विहीन हैं। हम तुम्हारी अबोध सन्तान हैं।'' तभी मानव ऐसी प्रार्थना करता है।[3]

शाण्डिल्य मुनि स्वप्रणीत भक्तिमीमांसा सूत्र में भक्ति का लक्षण बतलाते हुए कहते हैं कि परमेश्वर में जो परा अनुरक्ति है, चित्त में जो परमेश्वर-विषयक स्मृति

1. *ऋग्वेद संहिता* 8/11/149
2. *ऋग्वेद संहिता* 6/1/6
3. *ऋग्वेद संहिता* 8/11/149। भक्ति किसे कहते हैं, भक्ति तत्त्व के साथ जड़ विज्ञानोक्त आकर्षण तत्व का क्या सम्बन्ध है, ज्ञान-भक्ति का क्या सम्बन्ध है। इस मंत्र में इन सब प्रश्नों का उत्तर है।

है, वह भक्ति है।[1] परमेश्वर का आकर्षण ही उनके प्रति भक्ति का कारण है। भगवान् यदि कृपापूर्वक आकर्षण न करें, तब उनके प्रति किसी की भी भक्ति उन्मिषित होती है। उनके प्रति प्रयत्न से कदापि भक्ति का उदय नहीं होता। जड़ राज्य में जो आकर्षण के नाम से परिचित है, विशिष्ट चैतन्य राज्य में वह प्रेम, भक्ति, स्नेह इत्यादि कहलाता है। आकर्षण-विकर्षण शून्य होने पर जड़ जगत् जैसे विलुप्त हो जाता है, चेतन राज्य भी उसी प्रकार प्रेम-भक्ति वृत्तिरहित हो जाने से मृतवत् हो जाता है। फलस्वरूप प्रेम-भक्ति रहित होकर चेतन की अवस्थिति नहीं रह सकती। आत्मा के प्रति तो सभी का आकर्षण है। सभी स्वयं को चाहते हैं। आत्मा को चाहने की जो लालसा-अनुराग है, जो आकर्षण है, वह अहैतुक है। आत्मा ही प्रियतम है। वही आनन्दमय है। परमेश्वर ही परम आत्मा है।

परमेश्वर के प्रति जो परानुरक्ति है, वही नियम है। लोग परमेश्वर को छोड़कर विषय से प्रेम करते हैं, यह वास्तव में सत्य उक्ति नहीं है। लोग परमात्मा को मन में करके विषय को पकड़ना चाहते हैं, भ्रान्तिवशात् दिशा का निर्णय न कर सकने से विषयगामी हो जाते हैं। जो विज्ञानानुशीलन करके सर्वकार्य कारण-सर्वव्यापक-सर्वशक्तिमय परमकारुणिक भगवान् के आश्चर्य कौशल को, उनकी असीम करुणा को देखकर भक्ति रस से विगलित नहीं होते, उनका विज्ञानानुशीलन निरर्थक है। विद्या-शिक्षा करके जो व्यक्ति चिन्मय विश्वम्भर को चेतन-अचेतन पदार्थ में विराजमान नहीं देख सकते, वे निश्चय ही दुर्भाग्य हैं, उनकी विद्या-शिक्षा निष्फल है।

भूततन्त्र तथा रसायनतन्त्र भौतिक आकर्षण-विकर्षण तत्वान्वेषण करते हुए उनकी व्याख्या करते हैं। अतएव इनकी तूलिका द्वारा राजा तथा प्रजा की प्रतिकृति का दर्शन करने के लिए सर्वप्रथम आकर्षण-विकर्षण के तत्व को जानना कर्त्तव्य है। हमने इसी कारण यहाँ वेद से आकर्षण तत्त्व सम्बन्ध में जो उपदेश मिलता है, उसका किंचित् आभास दिया। यहाँ भक्ति सम्बन्धित भी एक-दो बात कही गयी, जो अप्रासंगिक नहीं है, यह आगे प्रतिपन्न होगा।

विश्वराज्य के इतिहास के सम्बन्ध में कुछ कहने के लिए प्रवृत्त होने पर अनेक इसकी नैहारिकी अथवा वाष्पमयी अवस्था (Nebulous State) को आदिरूपेण ग्रहण करते हैं। परिदृश्यमान जगत् की आद्यावस्था में सूर्य तथा अन्य कोई ग्रह-उपग्रह विद्यमान नहीं था, तब समन्तात जगत् वाव्याकार में विद्यमान था। जिन भूतसमूह (Elements) से ग्रहादि की अभिव्यक्ति हो सकी है, वे विश्वतः व्याप्त एक अविशेष पदार्थ के विकार हैं। इस अविशेष पदार्थ का कौन कारण है, किस अविज्ञात प्रक्रिया के कारण खण्ड-खण्ड में विभक्त हो गया, तदनन्तर पुनः विभक्त हो गया। इस विभक्त अथवा विच्छिन्न खण्ड समूह से सूर्यमण्डल तथा सौर

1. 'सा परानुरक्तिरीश्वरः'

जगत् की अभिव्यक्ति हो सकी है, यह अनुमान करना होगा। आकर्षणी तथा विप्रकर्षिणी परमाणु समूह की यह द्विविधशक्ति है। आकर्षणी शक्ति के प्रभाव से परमाणु समूह केन्द्राभिमुखी चलते हैं। विप्रकर्षिणी शक्ति के प्रभाव से ये परमाणु समूह केन्द्र से दूर होते जाते हैं। परमाणु समूह कैसे सृष्ट हो गये, विज्ञान इस सम्बन्ध में आज भी कोई स्थिर सिद्धान्त नहीं कर सका है।

ईथर के आवर्त्तन से परमाणुओं की अभिव्यक्ति हुई है, अनेक यह मानते हैं। जड़विज्ञान ने गति को सरल तथा वक्र रूप दो प्रकार से विभक्त किया है। सरल गति ही स्वाभाविकी गति है। यह विरुद्ध शक्ति से यदि बाधित न हो, तब वक्र नहीं होती। विरुद्ध शक्ति के कारण सरल गति का मार्ग बदल जाता है, वह वक्र हो जाती है। जगत् के विकासकाल में आकर्षिणी शक्ति के प्रभाव से जैसे परमाणुपुंज केन्द्राभिमुख चलने लगते हैं, उसी प्रकार से विप्रकर्षिणी शक्ति के प्रभाव से ये केन्द्र से दूर चले जाते हैं। गणितशास्त्र के नियमानुसार यह दो परस्परतः विरुद्ध शक्ति निरन्तर प्रतिहत होकर चक्रावर्त्त में परिणत हो जाती है। यह सर्वविदित है कि प्रायः सभी वस्तुएँ शीतल होकर आकुंचित हो जाती हैं। जब कोई आवर्त्तनशील वस्तु आकुंचित होती है, तब उसकी गति अथवा वेग बढ़ जाता है। जब वेग वर्द्धित होता है, तब केन्द्रापसारिणी शक्ति भी उसी प्रकार वृद्धि प्राप्त होने लगती है। त्वरित चक्र-गति से परिभ्रमणशील नीहारसंघात का वेग अन्त में इतना बढ़ जाता है कि उसकी केन्द्रापसारिणी शक्ति, उसकी केन्द्रिक आकर्षणी शक्ति को अभिभूत कर लेती है। इस प्रकार नीहारसंघात से जो अँगूठी के समान एक खण्ड, प्रकाण्ड खण्ड विश्लिष्ट हो गया, वही सम्पूर्ण सम्भव (उन्मेष) है। आकुंचन क्रिया का विराम नहीं है, अतएव वेग की भी क्रमशः वृद्धि अवश्यम्भाविनी है। अतः पुनः अङ्गूरीयाकार एक खण्ड विच्छिन्न होगा, यह निश्चित है। इस प्रकार के सभी अङ्गूरीयाकार खण्ड परस्परतः सम्मिलित नहीं हो पाते। वे गोलाकार पिण्डरूपेण परिणत हो जाते हैं। जिस नीहारसंघात से ये सब गोलाकार पिण्ड विच्छिन्न हुए थे, जिस पथ से जिस प्रकार की गति से वे आवर्त्तित हुए थे, वे भी उसी पथ से उसी प्रकार चक्रगति से आवर्त्तन करते हैं। अर्थात् उक्त नीहारसंघात जिस अक्षरेखा के चतुर्दिक् परिभ्रमण करते हैं, ये उसी अक्षरेखा के समानान्तर अक्षरेखा के (About an axix parallel to the axis round which the NEBULA rotates) चारों ओर परिभ्रमण करते हैं। विशिष्ट अङ्गूरीयाकार खण्ड समूह में से जो बृहत्तम है, वह केन्द्र स्थानीय हो जाता है। प्रकाण्ड अंग सौर जगत् का केन्द्र स्वरूप सूर्य है और अन्यान्य खण्ड समूह एक-एक ग्रह-उपग्रह हो जाते हैं।

[इस प्रकार से नैहारिक सिद्धान्त को सुनकर हमारे हृदय को सन्तोष नहीं होता। एक प्रकार सर्वदिक् वितत नीहारवत् विद्यमान एक अविशेष जड़ पदार्थ से ग्रहनक्षत्रादि का आकार परिणाम तथा उसकी गति आदि कैसे सम्भव होती है, वह

हमें बोधगम्य नहीं है। जिस अविशेष नीहारवत् जड़ पदार्थ से ग्रहनक्षत्रादि का अवयव सन्निवेश होता है, उसे स्थिर न होने के कारण समगतिविशिष्ट स्वीकार करना होगा। स्थिर अथवा समगतिविशिष्ट अवस्था बलविज्ञान के साधारण सूत्रानुसार प्रतिपन्न होती है। किसी वाह्यनोदन अथवा आकर्षण के बिना परिवर्तित नहीं होती। सर्वव्यापक विश्व का अथवा यथोक्त समन्तात् व्याप्त वाष्पमय भाव का जब बाह्य कुछ नहीं है, तब इसकी नित्य स्थिर अथवा समगतिविशिष्टावस्था का अवस्थान अवश्यंभावी है।]

राजा तथा प्रजा की विज्ञानांकित प्रतिकृति का स्वरूपदर्शी होकर नैहारिक सिद्धान्त का स्मरण किया, उसका कारण क्या है?

अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था में आगमन पुनः व्यक्तावस्था से अव्यक्तावस्था (लय) में गमन, यही जगत् का स्वरूप है। विद्वान् स्पेन्सर कहते हैं कि "अव्यक्त से व्यक्त अवस्था में आगमन तथा व्यक्त से अव्यक्त अवस्था में गमन से (पुनः-पुनः का आवर्त्तन) जगत् का जगत्व सिद्ध होता है, तब जगत् से सम्बन्धित तत्त्व चिन्ता के लिए यह तत्व चिन्तन आवश्यक है कि इसके इन्द्रियगोचर भावधारण से अतीन्द्रिय भावधारणपर्यन्त रूप का परिवर्त्तन क्या है?" फलतः किसी पदार्थ के सूक्ष्मावस्था से स्थूलावस्था में आगमन तथा स्थूलावस्था से पुनः सूक्ष्मावस्था में गमन के तत्व से अवगत होने का नाम है उस पदार्थ के पूर्ण परिचय को प्राप्त करना। कार्य का कारणानुसंधान, स्थूल का सूक्ष्मतत्वान्वेषण तथा व्यक्त के अव्यक्त भाव की पर्येषणा एक ही तथ्य है। दार्शनिक, वैज्ञानिक, समासतः मनु के सन्तान कार्य का कारणानुसंधान करते हैं। जगत् कहाँ से कैसे उत्पन्न हुआ है? मनुष्य अपनी प्रकृति की प्रेरणा से इसका अवधारण किये बिना सन्तुष्ट नहीं होता। नैहारिक सिद्धान्त इसी प्रयत्न का फल है।

सृष्टिपूर्व जगत् अव्यक्त रूप था। यही शास्त्र भी कहते हैं कि ऐसी ही स्थिति थी। ऋग्वेद का उपदेश है कि प्रलयकाल में भूत भौतिक समस्त जगत् तमः द्वारा आवृत्त था। नैशतम जिस प्रकार से सर्व पदार्थ समूह को आवृत्त किये रहता है, प्रलयदशा में उसी प्रकार से मायापरसंज्ञ (माया है अपर संज्ञा जिसकी) भावरूप से अज्ञान अथवा तमः विश्व जगत् को आच्छादित किये था। दृश्यमान जगत् तब अपने कारण के साथ संगत, अविभागापन्न एकीभूत था।[1] नैहारिक सिद्धान्त का नीहार तथा वेद का तमः एक ही पदार्थ नहीं है, तथापि यह दोनों मानते हैं कि जगत् अव्यक्त अविभागापन्न अवस्था से क्रमशः व्यक्त अथवा विभागापन्न स्थिति में आगमन करता है। यहाँ तक वेद तथा नैहारिक सिद्धान्त का सादृश्य है। विद्वान् हेगल कहते हैं कि ज्यौतिषिक सृष्टि (The Astronomical Cosmos) भौतिक समाज सम्मूर्च्छन विशेष है। मनुष्य-समाज सम्मूर्च्छन का यह पूर्व लिंग है।

1. "तम आसीत्तमसागूढमग्रे प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्" —*ऋग्वेद संहिता* 8/10/129

अर्थात् प्रलयावस्था में परमाणु समष्टि जिस प्रकार से नीहारभाव में इतस्ततः व्याप्त थी, उसी से तत्पश्चात् आकर्षण-शक्ति के बल से परस्पर संहत होकर भिन्न-भिन्न संस्थानरूपेण परिणत हो गयी। मनुष्य भी पहले इसी प्रकार विच्छिन्न था, तदनन्तर समाजाकार हो गया। मनुष्य-समाज शरीर-गठन तथा ज्योतिषिक-समाज शरीर-गठन अनेकतः एकनियमाकर्षण का परिणाम है, अथवा स्वाधीन है। हम इसी निमित्त राजा तथा प्रजा की विज्ञानांकित प्रतिकृति के सिद्धान्त का स्मरण करते हैं। आणविकगठन का प्रधान निमित्त कारण ही भौतिक समाज शरीर (मनुष्य-समाज) गठन का प्रधान निमित्त कारण है। यदि प्रत्येक मनुष्य के साथ यही हो रहा है, तब मनुष्य समाज गठन एवं भौतिक शरीर सम्मूर्च्छन एक ही नियमाधीन है, ऐसा प्रतिपन्न होता है।

Nebulous शब्द है मेघाकीर्ण, तमोवृत्त (Cloudy) इस अर्थ का वाचक। हमारा विचार है कि यह संस्कृत के 'नमस्' शब्द का ही रूप है। विद्वान् काण्ट ने पहले इसी सिद्धान्त को प्रचारित किया। इनके अनुसार परिदृश्यमान जगत् की आद्यावस्था में सूर्य अथवा अन्य कोई ग्रह विद्यमान नहीं था। तब समस्त जगत् समन्तात् व्याप्त वाव्याकार में स्थित था। ऋग्वेद के अनुसार प्रलयकाल में मृत्यु नहीं थी। सूर्य-चन्द्र के अभाव के कारण दिवारात्रि का भान भी नहीं था। तब सर्ववेदान्त प्रसिद्धतत्व प्राणितवत् विद्यमान था। प्राणितवत् अर्थात् लोग पश्चात् काल में निरुपाधिक ब्रह्म को जीवभावापन्न, जीववत् क्रियावाला मानेंगे, वेद ने यही कहा। त्रिगुणात्मिका प्रकृति अथवा माया अपने आधार ब्रह्म के साथ अविभागापन्न होकर साम्यावस्था में विद्यमान थी। क्रियाशील रजोगुण की अनभिव्यक्ति के कारण तब कोई क्रिया नहीं थी।[1]

जिस भूत (Elements) समूह से ग्रहादि अभिव्यक्त होते हैं, वे विश्वतः व्याप्त एक अविशेष पदार्थ के विकार हैं। रासायनिक विद्वान् क्रुक्स हाइड्रोजन आदि भूतयोनि को प्रोटाईल (Protyle) कहते हैं। इस प्रोटाईल में गति उत्पन्न होने से तेजः अथवा तड़ित शक्ति विशेष (Forceallied to Electricity) की अभिव्यक्ति होती है। तब चक्रगति अथवा आवर्त्त से हाईड्रोजनादि परमाणुओं का विकास होता है। सत्यसन्ध पाठक आकाश से वायु (गति वायु का धर्म है), वायु से तेज, तेज से जल, जल से पृथ्वी की उत्पत्ति होने के शास्त्र वाक्य के साथ विद्वान् क्रुक्स के वचनों की एकता का चिन्तन करें।

व्यक्त जगत् के आद्य परमाणु तथा अव्यक्तावस्था के परमाणु परस्परतः अनिर्देश्य दूरवर्त्ती थे, यह आधुनिक वैज्ञानिक मात्र का अभिमत सिद्धान्त है। यद्यपि परमाणु समूह परस्परतः उपनिर्देश्य दूरवर्त्ती हैं, तथापि यह भी स्वीकार्य है कि उस

1. *ऋग्वेद संहिता* 8/11/129

समय भी प्रत्येक परमाणु में परस्पर संहत होने का धर्म विद्यमान था। यह अव्यपदेश्य भावेन विद्यमान था। परमाणु इस अवस्था में कब तक थे, तत्पश्चात् किस कारण से तथा किस रूप में वे परस्परतः आकर्षण में प्रवृत्त हो गये, परस्परतः मिलित होने के लिए प्रयत्नवान् हो गये, परमाणु समूह प्रसुप्तावस्था से समष्टिभाव में जाग उठे, किंवा व्यष्टिभाव से क्रमशः जागरित हुए, विज्ञान इन सबके विशेष अनुसंधान का मनोयोगी नहीं है। परमाणु के सोकर उठने के पश्चात् उसकी स्थिति वैसी ही है। दीर्घकाल विच्छेद के अनन्तर जैसे व्यक्ति आत्मीयगण से मिलने को व्यग्र हो उठता है, एक-दूसरे से मिलने के लिए दौड़ पड़ता है, वैसी अवस्था ही विज्ञान की सूक्ष्मतम चिन्तन की आद्यभूमि है, प्रथम आलम्बन है।

ऋग्वेद संहिता ने कारण के साथ संगत, अविभागापन्न, एकीभूत एक अखण्डतमोभाव में अवस्थित जगत् कार्य कैसे विभक्त हुआ, कैसे सृष्टि का आरम्भ हुआ, वह बताने के लिए जो कहा है, उसका संक्षिप्त संवाद दिया जा रहा है। तदनुसार ऋग्वेद का कथन है कि एकीभूत-अविभागापन्न-अविभागता प्राप्त तत्कार्य जात् तप से ही द्रष्टव्य पर्यालोचना रूप की महिमा द्वारा ही जगत् उत्पन्न है, विभागता प्राप्त है।[1] परमेश्वर की पर्यालोचना ही जगत् की पुनः उत्पत्ति का कारण है। परमेश्वर के पर्यालोचन का कारण क्या है?

इस विकारजात् की सृष्टि की प्राग्वस्था में परमेश्वर के मन में काम सिसृक्षा-जगत् सर्जनेच्छा उत्पन्न होती है, इसका कारण क्या है? परमेश्वर के मन में जगत् सर्जनरूप काम का उदय क्यों? प्रलयकाल में जीव समूह के वासनावासित अन्तःकरण समूह माया (प्रकृति) में विलीन हो जाते हैं। प्राणिगण के अतीत कल्प में कृत अन्तःकरण समवेत कर्म समूह ही भावी प्रपंच के बीज हैं। जब ये सब कर्म फलोन्मुख हो जाते हैं तब सर्वकर्मफलप्रद सर्वसाक्षी कर्माध्यक्ष परमेश्वर के मन में सिसृक्षा (जगत् सर्जनेच्छा) उदित हो जाती है। कल्पान्तर में जीवसंघकृत कर्म ही वर्त्तमान सृष्टि का कारण है, यह शब्द तो श्रुति तथा अलौकिक अबाधित प्रत्यक्षसिद्ध है। तथापि श्रुति ने त्रिकालज्ञ विद्वज्जनों के अनुभव को ही यहाँ प्रमाणरूपेण ग्रहण किया है। ऋग्वेद का कथन है कि इस अनुभूयमान अखिल जगत् के हेतुभूत कल्पान्तर में जीवानुष्ठित, अव्याकृत अथवा कारण में लीन कर्मसमूह को अतीत अनागत-वर्त्तमानाभिज्ञ योगीगण चित्तवृत्ति निरोध के द्वारा समाधि में सम्यक्रूपेण जान लेते हैं।[2]

कर्म की विचित्रता सृष्टि वैचित्र्य का हेतु है। यह सभी स्वीकार करते हैं। वैज्ञानिक भी इस बात को अस्वीकार नहीं कर पाते। यहाँ प्रश्न उत्थित होता है कि

1. *ऋग्वेद संहिता* 8/11/129
2. वही तथा इसका सायण-भाष्य द्रष्टव्य

आद्या सृष्टि विषमा क्यों हो जाती है? प्रलयकाल में अखिल प्रपंच जब विनष्ट हो जाता है, तब आद्य सृष्टि में वैषम्य का क्या कारण हो सकता है? भगवान् बादरायण इसके उत्तर में कहते हैं कि नहीं, प्रलयकाल में भी कर्मसमूह संस्कारात्मा में विद्यमान हैं। सृष्टि प्रलय परम्परा अनादि है। भगवान् बादरायण उद्धृत ऋक्मन्त्र की ही व्याख्या कर रहे हैं। अनादि कर्म ही सृष्टि तथा तद्वैचित्र्य का बीजभूत है, यह सुना! अब जानना है कि ग्रहादि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में शास्त्र का उपदेश क्या है?

सूर्यसिद्धान्त नामक ज्योतिष-ग्रन्थ में लिखा है कि अनिरुद्ध नाम वाले भगवान् सविता अहंकार तत्त्वरूप ब्रह्मा की सृष्टि करके उन्हें वेदोक्त मार्ग से जगत् सृष्टि करने के लिए (उनको) सुवर्णमण्डित अण्ड में प्रतिष्ठापित करके सभी वेद प्रदान करते हैं। अहंकार तत्त्वमूर्त्तिधारक ब्रह्मा का यह संकल्प है कि 'मैं जगत् सृष्टि करूँगा।' उनके मन से चन्द्रमा की आँखों से तेजोनिधि सूर्य की उत्पत्ति होती है। श्रुति का कथन है कि विराट् पुरुष के मन से चन्द्रमा तथा चक्षुः से सूर्य की उत्पत्ति हुई है। चक्षुः शब्द से प्रकाशक तेजः मनः शब्द द्वारा सोमात्मकतेजः लक्षित होता है। ब्रह्मा के मन से आकाश की उत्पत्ति होती है। उसी से गुणैक वृत्ति द्वारा पंचभूत का जन्म होता है। सूर्य अग्निस्वरूप है। तेजोमण्डल है। चन्द्र सोमस्वरूप है। जगत् वास्तव में अग्निषोमात्मक है। सूर्य सविता है, चन्द्र सावित्री है। सूर्य उष्ण है, चन्द्र शीत है। सूर्य है भेदशक्ति, चन्द्र संसर्गशक्ति है। सूर्य है पुंशक्ति। चन्द्र है स्त्रीशक्ति। मंगल तेजः से, बुध पृथ्वी से, बृहस्पति आकाश से, शुक्र जल से तथा शनि वायु से उत्पन्न है।[1]

सूर्यसिद्धान्त ने वेद के उपदेश की ही व्याख्या की है। ऋग्वेद का कथन है कि आकाशादि सूक्ष्मभूत अथवा पंचतन्मात्र की उत्पत्ति के पूर्व माया के अध्यक्ष सुसृक्षु परमात्मा से हिरण्यगर्भ का आविर्भाव हुआ। यह हिरण्यगर्भ निखिल

---

1. मनसो खं ततो वायुरग्निरापोधराक्रमात्।
गुणैकवृध्या पञ्चैव महामृतानि भञ्जिरे॥
तस्मै वेदान् वरान् दत्त्वा सर्वलोकपितामहम्।
प्रतिष्ठाप्याशुमध्येऽथ स्वयंपर्यति भावयन॥
अथ सृष्ट्या मनश्चक्रे ब्रह्माहङ्कारमूर्त्तिभृत्।
मनसश्चन्द्रमा जज्ञेसूर्योऽक्ष्मास्तेजसांनिधिः॥ —*सूर्यसिद्धान्त*

तथा ऋग्वेदसंहितोक्त पुरुष सूक्त में कहते हैं—
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत
सूर्यसिद्धान्त की यह उक्ति भी द्रष्टव्य है—
अग्निषोमो भानुचन्द्रौ तत्सु अङ्गारकादयः।
तेजोभूत्थाम्वुवातेभ्यः क्रमशः पञ्चजज्ञिरे॥

जगत् के एक अद्वितीय पति, ईश्वर हैं। यही त्रिलोक के धारणकर्त्ता हैं। सूर्यसिद्धान्त में कहा गया है कि आदित्य हिरण्यगर्भ, सविता, महत्तत्व ये एक ही पदार्थ है।

स्वतंत्र इच्छा वाले ब्रह्मा तत्पश्चात् आत्मा का 12 संज्ञक राशि विभाग करते हैं। मन:कल्पित एक वृत्त को द्वादशात्मक राशिवृत्त करते हैं। तदनन्तर इसका 27 विभाग करके नक्षत्रवृत्त बनाते हैं। तदनन्तर विश्वकर्मा ब्रह्मा, श्रेष्ठ, मध्यम तथा अधम स्त्रोत: अथवा गत्यानुसार सत्व-रज: तथा तमोविभेदात्मक विश्व जगत् की सृष्टि में प्रवृत्त होते हैं तथा देव-मनुष्यादि चराचर चेतन-अचेतन विश्व का निर्माण करते हैं। विधाता ने किस प्रकार, किस क्रम, किस नियम तथा किस पदार्थ से सृष्ट पदार्थ समूह के यशायथ विभाग की कल्पना की?

सूर्यसिद्धान्त का मत है कि विधाता त्रिगुण तथा पूर्व कर्म, इन दोनों के एकीकरणात्मक विभाग द्वारा पहले की तरह, प्राग्वत् चन्द्र, सूर्य की पूर्व सृष्टि के क्रमानुसार सुर-नर-असुर-भूमि-पर्वत आदि चराचर जगत् का सर्जन करके, वेद-दर्शन करके वेदोक्त रीत्यानुसार यथादेश, यथाकाल में सृष्ट पदार्थों के अवस्थान विभाग की कल्पना करते हैं। इन सभी गम्भीरार्थक शास्त्रोपदेश की विस्तारपूर्वक व्याख्या किये बिना इनके गुरुत्व की मर्मोपलब्धि नहीं होती। विस्तृत व्याख्या करने का यह उचित स्थल नहीं है। भगवान् की यदि इच्छा हुई तब ग्रन्थान्तर में इन सब उपदेशों की यथाशक्ति व्याख्या का प्रयत्न होगा। आपातत: प्रस्तावित विषय का अनुवर्त्तन आवश्यक है।

विज्ञान का कथन है कि यह पृथ्वी पहले वाष्पमयी थी। तब क्रमश: तापहीन होकर जलमयी हो गयी। जब भूमण्डल जलमय था, तब इसका ताप इतना था कि कोई जीव रह नहीं सकता था। भूमण्डल में पहले उद्‌भिद् का उदय हुआ। सूर्य आलोक का तथा ताप उद्‌भिद की उत्पत्ति का कारण है।

वैशेषिक दर्शनाचार्य प्रशस्तपाद कहते हैं कि प्रलयकाल में द्व्यणुकादि कार्य द्रव्यसमूह ईश्वर की इच्छा से विशिष्टावयव में लीन हो जाते हैं। प्रलय में क्या रहता है? प्रलयकाल में परमाणु परस्परत: असंयुक्त होकर रहते हैं। पुन: सर्ग (सृष्टि) कैसे होता है? उसका कारण क्या है? पुन: सर्ग के पार्थिवादि परमाणु समूह समवायिकारण हैं। ईश्वरेच्छा तथा क्षेत्रज्ञ अथवा जीवात्मागण का अदृष्ट निमित्तकारण है। पुन: सर्गकाल में पार्थिवादि परमाणुसमूह, ईश्वरेच्छा तथा क्षेत्रज्ञ (जीवात्मागण) के अदृष्ट (पूर्व कर्म) के निमित्तकारणवशात् कर्मोत्पत्ति होती है। पार्थिवादि परमाणुसमूह परस्परत: सजातीय आकर्षण में आकृष्ट होकर द्व्यणुकादि क्रम से पृथिव्यादि भूतचतुष्टय का निर्माण प्रारम्भ कर देते हैं। तदनन्तर ईश्वर के अभिधानमात्र से तैजस अणुसमूह के साथ पार्थिवादि अणुओं के संयोग से महद् अण्ड का गठन आरम्भ हो जाता है। ईश्वर सर्वलोक पितामह ब्रह्मा को प्रजासृष्टि के

लिए नियुक्त करते हैं। ब्रह्मा सर्व प्राणीगण के विपाक को जानकर कर्मानुसार ज्ञान-आयु-भोग युक्त करके विविध प्रजा की सृष्टि करते हैं।[1]

पाश्चात्य क्रमविकासवाद की सारकथा इसमें है, परन्तु उसमें यह सूक्ष्मतत्वांश नहीं है। पाश्चात्य क्रमविकासवाद परमाणु के आकर्षण-विप्रकर्षण के अतिरिक्त सृष्टि का अन्य प्रवर्त्तक कारण नहीं देख सकता। सृष्टि का अनादित्व, सृष्टि का प्रवाहरूप नित्यत्व स्वीकृत अंगीकृत नहीं करता। प्रयोजनाभाव के कारण किसी कार्य के मूल कारण का अनुसंधान नहीं करता। उनके इस क्रमविकासवाद को निर्निमित्तवाद अथवा अकस्मात् उत्पत्तिवाद ही कहना संगत है। पाश्चात्यगण सामर्थ्य विहीनतावश कार्य के मूल कारण का अनुसंधान करने से विमुख हैं। अभिव्यक्त, स्थूलरूपेण प्रकटित जीवों के सादृश्य-वैसादृश्य को लेकर वैज्ञानिक कितने व्यस्त हैं। जीव का आविर्भाव कैसे हुआ? मैटर से जीवोत्पत्ति हो सकती है अथवा नहीं, जीवनी-शक्ति कौन पदार्थ है, जीव के उच्चावच भाव का क्या कारण है, वे इन सबके समाधान के लिए व्यस्त ही नहीं हैं तथापि हमें यह मुक्तकण्ठ से स्वीकार करना होगा कि सूक्ष्मतत्वानुसंधान निरत, सूक्ष्ममनीषासम्पन्न पाश्चात्य कोविदकुल के समीप हम चिरकृतज्ञता पाश में बद्ध हैं। उन्होंने गम्भीर गवेषणा तथा असामान्य तत्वानुत्संधित्सा से हमें विस्मित-विमुग्ध-अवाक् कर दिया है। ये ही मनुष्य नामधारण के योग्यपात्र हैं। तब भी हम इन्हें पूर्ण देखने की इच्छा करते हैं। प्रकृति की मध्यावस्था का इन लोगों ने जिस प्रकार से हस्तामलकवत् दर्शन किया है, उसी प्रकार ये प्रकृति का आद्यन्त दर्शन करें यह हमारी प्रार्थना है।

विद्वान् Tylor ने अपने मनुष्येतिहास (Anthropology) शीर्षक प्रबन्ध में कहा है कि मनुष्य जाति की आद्य उत्पत्ति के सम्बन्ध में वर्त्तमान विद्वद्वंश की प्रबुद्धता दसगुणित वृद्धिगत हो जाती है। सृष्टिवादी जीवतत्वविद् एवं क्रमाभिव्यक्तिवादी जीवतत्वविद्—मनुष्य जाति की आद्य उत्पत्ति के सम्बन्ध में ये दो मत ही प्रबल हैं। जो कुछ भी हो, इन दोनों पक्षों ने इस प्राचीन सिद्धान्त का परित्याग कर दिया है कि पृथ्वी पर निखिल जीवसमूह एक साथ युगपत् आविर्भूत हुए थे। जीवजाति की क्रमोन्नति अथवा क्रमविकास, इन दोनों मत के मानने वालों द्वारा स्वीकृत है। सृष्टिवादी जीवतत्वविद् Agassiz के ग्रन्थ से यह प्रतिपादित हो जाता है। किन्तु एगासिज कहते हैं कि जीवजाति में एक जाति से अन्य जाति का अनेकांश सादृश्य लक्षित होता है, तथापि एक जाति के जीव के साथ अन्य जाति के

---

1. "पृथिव्युदकज्वलपवनानामपि महाभूतानामनेनैव क्रमेणोत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन् सति पूर्वस्य विनाशः। ततः प्रविभक्ताः परमाणवोऽवत्तिष्ठन्ते। ततः पुनः प्राणिनां भोगभूत महेश्वरस्य सृसृक्षानन्तरं सर्वात्मगतवृत्तिलब्धादृपेक्षेभ्यः तत् संयोगेभ्यः पवन परमाणुषु कर्मोत्पत्तौ तेषां परस्परं संयोगेभ्यो द्वाणुकादिक्रमेण महान् वायुः समुत्पन्नोमसि दोधूर्यमानस्तिष्ठति"

—*प्रशस्तपाद*

जीव का साक्षात् अन्वय अथवा वंशगत सम्बन्ध प्रतिपन्न नहीं होता। वानर से मनुष्य का तथा मत्स्य से सरीसृप का साक्षात् जन्म नहीं होता। जीव के आविर्भाव काल की (Palaeozoic age) प्रथमावस्था में मत्स्यगण कभी भी द्वितीयावस्था के सरीसृप के अथवा तृतीयावस्था के स्तन्यपायी जीव जाति अथवा मनुष्य जाति के पूर्व वंश (पूर्व पुरुष) नहीं हैं।[1]

सृष्टिवादीगण के साथ अभिव्यक्तिवादीगण का और एक विषय में मतभेद है। डारविन आदि प्रमुख क्रमविकासवादियों के सिद्धान्त से प्राकृतिक परिणामसमूह ईश्वर संकल्प अथवा चैतन्यकृत कर्त्तृत्व की अपेक्षा नहीं करते। यह परिणाम उद्देश्यविहीन अथवा अन्धनियमानुसार हो जाता है। सृष्टिवादीगण के मत से वह नहीं होता। जब प्रत्येक कार्य में रचना-कौशल, नियम, उद्देश्य अथवा संकल्प स्पष्टत: लक्षित होता है, तब चेतन के अनधिष्ठित अचेतन द्वारा (अर्थात् चेतन के बिना अचेतन द्वारा) स्वतंत्र रूप से कोई भी विकार किंवा परिणाम संघटित नहीं हो सकता। विद्वान् डारविन के मत से उद्देश्यरहित जड़ अथवा अचेतन प्रकृति का निर्वाचन ही उच्चावच परिणाम का कारण है। प्राकृतिक आपूरण द्वारा ही यथोपयुक्त प्राकृतिक उपादान के संहत होने से कार्येन्द्रिय आदि का परिणाम संहत हो जाता है।

"प्रकृति अचेतना है, उद्देश्यविहीना है। संकल्प शून्य है, अथच यह स्वयं चैतन्यनिरपेक्ष होकर विविधाकार में संविभक्त होती है तथा विविध परिणाम संगठित करती है।" जो ऐसे मत के पक्षधर हैं, उनको मानना होगा कि यथोक्त प्रकृति किसी प्रकार की अद्भुत्शक्तियुक्ता है। अद्भुत् शक्ति के बिना कोई भी अनन्यसहाय (बिना किसीं भी अनन्य सहायता के) होकर विविध कार्य सम्पन्न नहीं कर सकता। प्रकृति की यह अनिर्वचनीय शक्तिमत्ता स्वीकार किये बिना उसका प्रकृतित्व ही असिद्ध हो जाता है। यह अद्भुत् शक्ति वस्तुतः चैतन्यस्वरूपिणी है। अन्ध जड़शक्ति कभी भी कोई नियमित कर्म नहीं कर सकती।

विद्वान् हेल्महोल्ज कहते हैं कि चैतन्यनिरपेक्ष प्राकृतिक नियम की अन्धचेष्टा अथवा क्रिया द्वारा शरीर यन्त्र समूह का किस प्रकार से यथायोग्य संविधान होता है, डारविन का सिद्धान्त यही प्रदर्शित करता है।

---

1. Openion as to the genesis of man is divided between the theories of the two great schools of Biology, that of creation and that of evolution. In both schools the ancient doctrine of the contemporaneous appearance on earth of all species of animals having been abandoned under the positive evidence of Geology, it is admitted that the animal kingdom, past and present, includes a vast series of successive forms whose appearances and disappearances have taken place at intervals during an inmense lapse of ages.. Agassiz continues, however, in terms characteristic of the creation & evolution.

—*इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका,* 9वाँ संस्करण, एन्थ्रोपोलॉजी

विद्वान् Beale इसका उत्तर देते हैं कि शारीरिक यन्त्रों की आद्य उत्पत्ति पद्धति, वैधानिक परिवर्त्तन रीति, जो डरविन के सिद्धान्त का प्रधान अभिधेय है, वह अभी तक अज्ञात है। आज तक आविष्कृत किसी भी नियमानुसार वह व्याख्येय नहीं है, विद्वान् हेल्महोल्ज उक्त मत के प्रतिपादन काल में इसे भूल गये।[1]

चैतन्यनिरपेक्ष, सृष्ट्युनुकूलज्ञान से रहित, जड़प्रधान (अथवा प्रकृति) से विश्वजगत् की सृष्टि होती है, ऐसे मत का खण्डन करते समय वेदान्त दर्शन कहता है कि अनुमान वेद्य प्रकृति (प्रधान) कभी भी जगत् का कारण नहीं है और न कारण हो सकती है। क्योंकि सृष्टि के अनुकूल ज्ञान से रहित जड़ प्रकृति (प्रधान) में प्रपंच निर्मातृत्व उपपन्न नहीं होता। जड़ प्रकृति में सृष्टि प्रवृत्ति, सर्जनेच्छा कैसे उत्पन्न होती है, उसकी कैसे उपपत्ति होती है? स्तन में विद्यमान दुग्ध जैसे स्वयं बहिर्गत होता है, जल की जैसे बहने की प्रवृत्ति होती है, जड़ प्रकृति भी उस प्रकार स्वयं बाहर निर्गत होती है। वह चैतन्यनिरपेक्ष होकर स्वयं महदहंकारादि (महद् अहंकार आदि) का उत्पादन करती है। यदि यह सब कहें तब क्या दोष होगा? भगवान् बादरायण कहते हैं कि स्तन के दुग्ध के बहिर्गमन में तथा जल के बहने में कोई स्वातंत्र्य नहीं है। यह भी ईश्वर द्वारा नियम प्रतिपादित कर्म है।[2]

जड़ प्रकृति स्वतंत्र भाव से विश्व परिणाम साधन करती है, यदि इसको अभ्युपगम (स्वीकार) किया जाये, तब अर्थ के (भोगमोक्षादि प्रयोजन के) अभाववशात् इसका विश्व प्रपंचजनकत्व सिद्ध नहीं होता।[3] वैज्ञानिक पी०जी० टेट तथा स्टुअर्ट (P. G. Tait & Stewart) कहते हैं कि हम जो देखते हैं, जो इन्द्रियग्राह्य है, अर्थात् जो व्यक्त है, वह अव्यक्त मूलक है। वह अव्यक्त कारण प्रसूत है।[4] उक्त पण्डितद्वय ने उत्तरोत्तर व्यापक चार वृत्त अंकित करके यह

---

1. Helmholtz declares that Darwin's theory shows how the adaptation of structure in organisms may be effected, without any interference of intelligence, by the blind operation of natural law; but this observer seems to forget that the mode of origin of structures, as well as of the variation in structure which forms a cardinal point in Mr. Darwin's theory is unknown, and is inexplicable according to any law yet discovered.
—*Protoplasm* or *Matter and Life* by L.S. Beale, Page 329
2. रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् —*वेदान्त दर्शन* 2/2/1
3. 'प्रवृत्तश्च' —*वेदान्त दर्शन* 2/2/2; 'पयोम्बुवच्चेत्तथापि' —वही 2/2/3
4. But again, we are compelled to imagine that what we see has originated in the unseen.... Now is this be the case, if the universe be constructed with successive orders of this description connected with one another, it is manifiest that no event whatever, whether we regard its antecedent or its consequent, can possibly be confined to one order only, but must spread throughout the entire universe. —*The Unseen Universe* by Stewart & Tait, Page 199

दिखलाया है। प्रथम वृत्त द्वितीय से, द्वितीय तृतीय से तथा तृतीय चतुर्थ से व्यापक है। जो जिसका व्याप्य है, जो जिसके गर्भ से धृत है, उसका जिस प्रकार का कार्य है, वह उसका स्थूल अथवा व्यक्त भाव है। इसी प्रकार बाह्य जगत् में जो अव्यक्त का कार्य है, जो अव्यक्त की व्यक्त अथवा स्थूलावस्था है, जिस अव्यक्त जगत् से इसका विपरिणाम हो रहा है, उसके साथ उसका सम्बन्ध है। जगत् यदि इस प्रकार क्रमबद्ध अथवा पौर्वापर्य भाव से संगठित पदार्थ है, यदि प्रत्येक बाह्यभाव यथोक्त रीति के अनुसार तदान्तर भाव के साथ सम्बद्ध है, तब यह स्पष्टत: प्रतिपन्न होगा कि कोई घटना ही एक देश में, एककोश में, एकस्तर में अवरुद्ध होकर नहीं रह सकती। वह विश्व ब्रह्माण्ड में परिव्याप्त होगी। तथा बाह्य जगत् का परिणाम चैतन्याधिष्ठित अव्यक्त द्वारा होता है, यह उक्त विद्वानृद्वय ने कहा है।[1]

वैज्ञानिक ग्रोव कहते हैं कि जितने ही निविष्टचित्त से दृक्‌गोचर वस्तु समूह का तत्वानुसन्धान किया जाये, उतनी ही दृढ़ प्रतीति होती है। जब भूत तथा भौतिक शक्ति के लिए किसी पदार्थ की सृष्टि तथा नाश करना सम्भव नहीं है तथा किसी भी कार्य के मूलकारण की अवधारणा असम्भव असाध्य है, तब ईश्वरेच्छा को ही निखिल कार्य का मूल कारण मानना होगा। सृष्टि ईश्वर की ही कृति है, यह कहना उचित है।[2]

रसायनवेत्ता कुक (J.P. Cooke) कहते हैं कि यद्यपि हम चरम विश्लेषण अथवा व्याकरण में भूत तथा भौतिक शक्ति (Mass and Energy) को मूल प्राकृतिक तत्त्व रूप से अवधारित करते हैं, तथापि हमें यह न विस्मृत हो कि जिसके द्वारा परमाणुसमूह यथाप्रयोजन सन्निवेशित तथा नियमित होते हैं, उसकी कोई नियामक शक्ति है। विद्वान् कुक ने अन्त में स्पष्ट रूप से ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया है।[3]

यहाँ यह कहना है कि विद्वान् स्पेन्सर, डारविन, बुकनर, हक्सले प्रभृति जो चैतन्यनिरपेक्ष भूत तथा भौतिक शक्ति को सर्वकार्यकारण रूप से अवधारित करने के इच्छुक हैं, वे भी जड़वाद के ऊपर अचल भाव से खड़े रहने में समर्थ नहीं हैं।

---

1. Finally, our argument has led us to regard the production of the visible universe as brought about by an intelligent agency residing in the unseen. – *The Unseen Universe*, Ibid, Page 218
2. "In all phenomena the more closely they are investigated the more are we convinced that humanly speaking neither matter nor force can be created or annihilated, and that an essential cause is unattainable, causation is the will, creation the act of God."
   —*Correlation of Physical Forces* by Grove, Page 218
3. But while we recognize in our last analysis mass and energy as the only fundamental elements of nature, let us not forget that there must be a directive faculty by which the atoms are arranged and controlled. — *The New Chemistry* by Cooke, Page 393

डारविन, स्पेन्सर प्रभृति चिन्तनशील विद्वानों ने एक बार कहा कि सर्वशक्तिमान ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास, परोक्ष अथवा आध्यत्मिक कर्तृत्व का सम्प्रत्यय, मानव जाति की आदिम अवस्था में नहीं था (अर्थात् ईश्वर के अस्तित्व की धारणा उन्हें नहीं थी)। जब किंचित् विचारशक्ति के साथ कल्पना, विस्मय तथा कुतूहल वृत्ति का अंशतः विकास होने लगा, तब प्राकृतिक नियम से मनुष्य में चारों ओर घटित होने वाली घटनाओं को जानने की प्रवृत्ति जन्म लेने लगी। ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास परोक्ष रूप से अथवा आध्यात्मिक कर्त्तृत्व के सम्प्रत्यय से इसी अवस्था में होता है। स्वप्नदर्शन, छायावलोकन तथा अन्यान्य कारण से अर्धसभ्य मानव अन्तरात्मा तथा शरीरात्मा में विश्वास करना प्रारम्भ कर देता था। इन्होंने आगे कहा है कि क्रमविकासवाद की विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि प्रतिभातरूपेण जड़वादात्मक नहीं है। हम जड़वादी नहीं हैं, जड़शक्ति से सजीव एवं चेतन पदार्थ की उत्पत्ति हो सकना किसी प्रकार से सम्भव नहीं है। जड़ में स्वातंत्र्य नहीं है। कार्बन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन तथा ऑक्सीजन के समवाय से चैतन्य का आविर्भाव कैसे होगा, यह हमें बोधगम्य नहीं है।[1] तभी कहना पड़ता है कि ये जड़वाद पर भी स्थिर रूप से दण्डायमान नहीं रह सके। तत्पश्चात् इनका यह अनुमान कि 'ईश्वर का विश्वास अर्धसभ्यावस्था में हुआ', क्या अव्यभिचारी प्रत्यक्ष भूमिक है.? जब देखा जाता है कि बील, ग्रोभ, स्टुअर्ट, कुक, जेवन्स आदि विद्वानों ने ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास किया है, तब इस सुसभ्यावस्था में भी अन्तरात्मा के अस्तित्व प्रतिपादन की

---

1. If however, we include under the term religion the belief in unseen or spritual agencies, the case is wholly different; for this belief seems to be almost universal with the less civilised races. Nor is it difficult to comprehend how it arose.
—*The Descent of Man* by C. Darwin, Vol. I, Page 65

विद्वान् स्पेन्सर भी कहते हैं— "The Doctrine of Evolution under its purely scientific form does not involve materialism. Antimaterialistic my own view is..... I agree entirely with Mr. Martineau in repudiating the materialistic interpretation as utterly futile."
—*Essays, Scientific, Political and Speculatice* by H. Spencer, Vol. III, Page 249

विद्वान् Darvin कहते हैं—"Now is there a fact, or a shadow of a fact, supporting the belief that these elements, acted on only by known fares, could produce a living existence? At present it is to us a result absolutely inconceivable" — *Scientific Sophisms*, Page 5

विद्वान् हक्सले कहते हैं— "I individual am no materialist; but on the contrary, believe materialism to involve grave philosophical error".
— *The Phyisical Basis of Life*

विद्वान् बुकनर के Force and Matter नाम ग्रन्थ का 46वाँ तथा 75वाँ पृष्ठ देखें। विद्वान् रिनडेल के Fragments of Science नामक ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड का 229वाँ पृष्ठ भी देखें।

उनकी चेष्टा को देखकर यह कैसे कहा जा सकता है कि डारविन, स्पेन्सर प्रभृति विद्वानों का जो अनुमान है, वह प्रत्यक्षभूमिक है? ग्रोभ, टेट प्रभृति पण्डितगण को हम कैसे अर्ध्यसम्य कहें?

वैज्ञानिकों में जो ईश्वरवादी हैं, उन्हें बतलाने तथा स्मरण कराने के लिए हमने यह सब कहा है। राजा तथा प्रजा की विज्ञानाङ्कित प्रतिकृति भी एकरूप नहीं है। इससे यह प्रकट होता है।

आकर्षण तथा विप्रकर्षण रूप शक्तिद्वय को ईश्वर नियामित स्वीकार न करने से, चैतन्याधिष्ठित न मानने से, ग्राहिक गति की उत्पत्ति नहीं होती। पण्डित प्याली ने इस सम्बन्ध में जो कहा है उसे नीचे (पाद टिप्पणी में) उद्धृत किया जा रहा है।[1] विज्ञान का किंचित् परिचय प्राप्त हो चुका है। अब विज्ञानांकित राजा तथा प्रजा की प्रतिकृति का स्वरूपदर्शन आवश्यक है।

विज्ञान को हम मायिक ज्ञान कहते हैं। मायिक ज्ञान कहने से परिच्छिन्न ज्ञान, आपेक्षिक किंवा सम्बन्धात्मक ज्ञान को हम लक्ष्य करते हैं। मित, परिच्छिन्न हो—विशिष्ट रूप हो, ज्ञात अथवा गणित हो, ऐसे पदार्थसमूह जिसके द्वारा विदित हो 'माया' शब्द उस अर्थ का वाचक है। मैंने यह जाना, इसका तात्पर्य क्या है? जानना शब्द का अर्थ क्या है? जानना का अर्थ है परिच्छेद करना। अद्वैतसिद्धि नामक प्रसिद्ध वैदान्तिक ग्रन्थ में कहा है कि परिच्छेद देशतः, कालतः तथा वस्तुतः रूप से त्रिविध है। 'कुछ सत् है' 'कुछ है' इस ज्ञान स्वरूप का चिन्तन करने से प्रतीति होती है कि कुछ निर्दिष्ट देश में, निर्दिष्ट काल में, अथवा निर्दिष्ट देश-काल में विद्यमान है। उक्त ज्ञान का यही स्वरूप है। इसलिए हम जो कुछ जानते हैं, वह है देशतः, कालतः तथा वस्तुतः परिच्छिन्न सत्।

दिक् (Space), काल (Time) तथा कार्यकारणसम्बन्ध (Causality) का चिन्तन करने से ज्ञात होता है कि ये ही परिच्छेद अथवा भेदबुद्धि के कारण हैं। विद्वान् काण्ट (Kant) इनको परिच्छेद का हेतु कहते हैं। माया तथा प्रकृति एक ही पदार्थ है, तथापि जो परिच्छेद हेतु है, वही है माया। इस कारण दिक्-काल तथा कार्यकारण सम्बन्ध ज्ञान मायिक है।

जगत् का ज्ञान सम्बन्धात्मक है। विद्वान् स्पेन्सर ने सम्बन्ध के द्विविध रूप का उल्लेख किया है, यथाक्रम एवं (यौगपद्य) सहवर्त्तिता (Sequence)। इनके मत से क्रम की अवकृष्टानुभूति ही काल है तथा सहवर्त्तिता की अवकृष्टानुभूति ही दिक्

1. "Bodies starting from the same place, with whatever difference of direction or velocity they set off, could not have been found at these different distances from the center, still retaining their nearly circular orbits." —*Natural Theology* by Pyali, Page 403

विद्वान् स्पेन्सर कहते हैं—"Now relation of two orders—relations of sequence and relations of co-existence; of which the one is original and the other derivative." — *First Principle*, H. Spenser, Page 163

है। भर्तृहरि कहते हैं कि क्रम तथा यौगपद्य का अतिक्रमण करके किसी भी प्रकार का लौकिक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। मूर्त्तक्रियामात्र ही क्रम तथा यौगपद्य से परस्परत: सम्बन्धयुक्त है। क्रम का ज्ञान यौगपद्य ज्ञान से रहित होकर तथा यौगपद्य का ज्ञान क्रमज्ञान के बिना अवस्थान नहीं कर सकता।

"क्रम का ज्ञान यौगपद्य ज्ञान से रहित होकर अथवा यौगपद्य ज्ञान क्रमज्ञान के बिना अवस्थान नहीं कर सकता।" इसका तात्पर्य क्या है?

विश्व जगत् त्रिगुणमय है। परिणाममात्र ही सत्व-रज:-तम: रूप गुणत्रय से संघटित होता है। गुणत्रय हैं अन्योन्याभिभववृत्तिक, अन्योन्यामिथुनवृत्तिक तथा अन्योन्याश्रयवृत्तिक्। इस बात का यही तात्पर्यार्थ है। भेदवृत्ति तथा संसर्गवृत्ति का परिचय पहले दिया गया है। क्रम भेदवृत्तिशक्ति रूप है तथा यौगपद्य संसर्गवृत्ति शक्तिरूप। भेदज्ञान द्वारा क्रम का तथा संसर्ग शक्ति द्वारा यौगपद्य का रूप प्रतिभात होता है।[1] जन्मादि विकार समूह इसी कारण क्रम तथा यौगपद्य, इन द्विविध सम्बन्ध में अन्वित है। इसी कारण जगत् का ज्ञान है क्रम तथा यौगपद्य का ज्ञान।

गति अथवा परिवर्तन के स्वरूप का दर्शन करने के लिए उद्यत होने पर तीन पदार्थों का अस्तित्व उपलब्ध होता है। गति अथवा परिवर्तन कदापि भेदशक्ति, संसर्ग-शक्ति अथवा प्रवृत्ति शक्ति, सस्त्यान-शक्ति अथवा रज:शक्ति, तम:शक्ति के बिना निष्पन्न नहीं हो सकता। यह सभी जानते हैं। गति अथवा परिवर्तन का रूप चिन्तन करने से भेदशक्ति अथवा संसर्गशक्ति के अतिरिक्त अन्य एक पदार्थ का रूप परिलक्षित होता है। नियत परिवर्त्तनशील पदार्थ जात का एक स्थिर आधार है। क्रिया अथवा परिवर्त्तन आधारहीन नहीं रह सकता। विद्वान् स्पेन्सर, काण्ट, मार्टिनिऊ ने ऐसा ही कहा है। विद्वान् मार्टिनिऊ कहते हैं कि उपलब्धि मात्र ही द्वैत है। एक पदार्थ को जानने के लिए दो पदार्थों की उपलब्धि करना होगा। वह दो पदार्थ क्या है? एक है परिवर्त्तन—पूर्वापरीभूतावयव क्रिया (Change), अन्य है अपरिणामी अथवा नित्य पदार्थ जो स्थितिशील है।[2] पारम्पर्य अथवा क्रम और यौगपद्य का सातत्य पश्चाद्वर्त्ती किसी स्थिर पदार्थ के क्रोड़ में अवस्थान करता है। पूज्यपाद यास्क, पतंजलि, भर्तृहरि प्रभृति आचार्यगण तथा ऋषिगण इसी कारण कहते हैं कि "विशुद्ध सत्व के ऊपर आविर्भाव-तिरोभावात्मक रज: तथा तम: इन गुणद्वय कृत भावविकार ही है जगत्।"

---

1. The phenomena of nature exists in two distinct relations to one another; that of simultaneity and that of succession.

— *Logic* by Mill, Vol. I.

भर्तृहरि की उक्ति है—द्वावभ्युपायौ शब्दानां प्रयोगे समवस्थितौ।
क्रमो वा यौगपद्यं वा यौर्लोको नातिवर्त्तते॥ —*वाक्यपदीय*

ततश्च ते क्रमयौगपद्ये भेदसंसर्गशक्ति —वही

2. Study of Religion by Martineau, Vol. I, Page 121

'परि' उपसर्गपूर्वक 'वृत्' धातु के उत्तर में ल्युट् प्रत्यय लगाने से परिवर्तन पद निष्पन्न होता है। 'परि' उपसर्ग का अर्थ है वर्जन—त्याग। वृत् धातु वर्त्तन—अवस्थान इस अर्थ का वाचक है। अतएव वर्जन अथवा त्यागपूर्वक अवस्थान, पूर्वभाव परिहारपूर्वक अपरभाव में संक्रमण ही परिवर्तन शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। जगत् का ज्ञान परिवर्तन का ज्ञान है। इसीलिए जगत् ज्ञान को क्रम एवं यौगपद्य का ज्ञान कहा है।

क्रम काल का (क्रम=Succession) तथा सहवर्त्तिता (Co-existence) दिक् (Space) का धर्म है। पण्डित काण्ट दिक् तथा काल (Time) को ऐन्द्रियक नहीं कहते। काण्ट के मत से इन्द्रियगण दिक् तथा काल के ज्ञान का उत्पादन नहीं कर सकते। दिक् ही हमारे बाह्यार्थ ज्ञान का उत्पत्ति हेतु है। हम जिसे जानेंगे, वह यदि हमसे देशत: भिन्न न हो, वह (ज्ञेय पदार्थ) तथा हम (ज्ञाता) यदि एक देश में एकाधिकरण में अवस्थान करें, तब हम उसे कैसे जान सकते हैं? ज्ञाता से ज्ञेय यदि देशत: भिन्न न हो, तब ज्ञेय पदार्थ का ज्ञेयत्व ही सिद्ध नहीं होता। बृहदारण्यक उपनिषद् इसीलिए कहता है कि द्वैत ज्ञान से ही इतरेतर को जाना जाता है। जो प्राप्य है, इन्द्रियगम्य है, वह है बाह्य। अत: बाह्य, प्राप्य तथा ज्ञेय समानार्थक हैं। दिक् से कृत परिच्छेद ही ज्ञेय पदार्थ का कारण है। इन्द्रियों के साथ विषयों के सन्निकर्ष के कारण जो क्रिया होती है, हम उसे ही जानते हैं। जो प्राप्य है, इन्द्रियगम्य है, वही है बाह्य। अतएव प्राप्य, बाह्य तथा ज्ञेय समानार्थक हैं, यह सिद्ध है।

गति अथवा क्रिया दिक् (Space) में ही हो सकती है। एक देश से अन्य देश में जाने (Motion) का स्वरूप-चिन्तन करने से दिक् का रूप सर्वाग्र में बुद्धि-दर्पण में पतित होता है। बाह्यार्थ सम्बन्धित ज्ञान का तो दिक् ही आकार (Form) है। पण्डित काण्ट के मतानुसार काल भी दिक् की ही तरह ऐन्द्रियक नहीं है। काल तथा दिक् ये दोनों ही सर्व प्रकार संश्लेषात्मक ज्ञान (Synthetical Cognition) के प्रभव हैं।[1] दिक् अथवा आकाश को पण्डित काण्ट ने बाह्य ज्ञान की आकृति कहा है तथा काल को आन्तर ज्ञानाकृति (Form) कहा है।

---

1. विद्वान् काण्ट कहते हैं—"By means of our external sense, a property of our mind, we represent to ourselves objects as external or outside ourselves, and all of these in space. It is within space that their form, size and relative position are fixed or can be fixed.
"Space is not an empirical concept which has been derived from external experience. For in order that certain sensations should be referred to something outside myself, i.e. to something in a different part of space from that where I am;...."
"Changes, however, are possible in time only, and therefore time must be something real."
"Time and space are therefore two sources of knowledge from which various a priori synthetical cognitions can be derived."
— *Kant's Critique of Pure Reason* by Miller, Page 18-31

विज्ञान प्रधानत: दिक् तथा काल की ही व्याख्या करता है। हमने जिस विज्ञान को मायिक विज्ञान कहा है, यही उसका कारण है।

विज्ञान ने जो दिक्-काल की ही तत्वचिन्ता किया है, वह गणित, भूततन्त्र, रसायनतन्त्र इत्यादि विज्ञान शाखा द्वारा ही प्रतिपन्न होती है। गणित को कालविज्ञान तथा दिक् विज्ञानरूपी भागद्वय में विभक्त किया जा सकता है। विद्वान् काण्ट गणित को काल-संख्या अथवा क्रमविज्ञान (Science of duration, the successive moments of which constitute number) तथा ज्यामितिक दिग्विज्ञान (Science of Space) कहते हैं। बीजगणित तथा पाटीगणित (Arithmetic) परस्परत: व्यक्तता भाव सम्बन्ध से सम्बद्ध है। व्यक्तगणित (Arithmetic) तथा अव्यक्तगणित (बीजगणित) द्वारा कौन-कौन से प्राकृतिक नियम व्याख्यात होते हैं? पाटीगणित तथा बीजगणित के अध्ययन से हमने क्या सीखा?

संकलन, व्यवकलन तथा समीकरण के सम्बन्ध में अल्प चिन्तन से ज्ञात होता है कि पाटीगणित तथा बीजगणित द्वारा त्रिविध प्रक्रिया साधित होती है। भास्कराचार्य ने लीलावती ग्रन्थ में अभिन्नपरिकर्माष्टक तथा भिन्नपरिकर्माष्टक पदद्वय से यथाक्रमेण अभिन्नराशि के (1) संकलन (Addition), (2) व्यवकलन (Substraction), (3) गुणन, (4) भागहार, (5) वर्ग, (6) घन (Square-cube), (7) वर्गमूल (Square-root) तथा (8) घनमूल (Cube-root) रूपी अष्टविध कर्म को तथा भिन्न-भिन्न भग्नराशि (Fraction) के संकलनादि अष्टविध कर्म को लक्ष्य किया है। गुणन (Multiplication) तथा भागहार (Division) यथाक्रम से संकलन तथा व्यवकलन की ही प्रक्रिया विशेष है। वर्ग-घन-वर्गमूल, ये भी गुणन तथा भागहार की ही विशेष-विशेष प्रक्रिया है। महत्तमावर्त्तक गरिष्ठ साधारणगुणनीयक (Greatest Common Measure) है तथा लघुत्तम समापवर्त्तक लघिष्ठ साधारण गुणितक (Least Common Multiple), गुणन तथा भागहार की प्रक्रिया के अतिरिक्त नहीं है। जिस राशि से और एक राशि का भाग करने पर कुछ न बचे, उसे द्वितीय राशि का गुणनीयक कहा गया। जिस राशि से और दो राशि अथवा उससे अधिक राशि का स्वतंत्र-स्वतंत्र भाग करने पर कुछ भी शेष न बचे, उसे उसका साधारण गुणनीयक कहा गया है।

साधारण गुणनीयक में जो सर्वापेक्षा गुरु है, उसे उसका गरिष्ठ साधारण गुणनीयक कहा गया है। जिस राशि को अन्य एक राशि से भाग करने पर कुछ भी भाग शेष न बचे, उसे द्वितीय राशि का गुणीतक कहा है। जो राशि दो अथवा उससे अधिक संख्या का गुणीतक है, उसे उसका एक साधारण गुणीतक कहते हैं तथा प्रस्तावित राशियों में से जो साधारण गुणीतक सर्वापेक्षा लघु है, उसे इन राशि समूह का लघिष्ठ साधारण गुणीतक कहा जाता है। अतएव यह दो गाणितिक प्रक्रिया— गुणन तथा भागाहार से व्यतिरिक्त नहीं है, यह कहा जा सकता है।

भिन्न-भिन्न द्रव्य अथवा राशिसमूह के एकीकरण को श्रेढ़ी (Progression or series, or a succession of numbers according to a fixed law) संज्ञा से संज्ञित किया गया है जिसे योगान्तर श्रेढ़ी (Arithmetical Progression) तथा गुणोत्तर श्रेढ़ी (Geometrical Progression) कहा जाता है। 2, 4, 6, 8, 10 इत्यादि योगान्तर अथवा समान्तर श्रेढ़ी का दृष्टान्त है। यदि किसी योगान्तर श्रेढ़ी की प्रथम राशि 'क' तथा द्वितीय राशि क + ख है, तब तृतीय राशि क + 2 ख एवं चतुर्थ राशि क + 3 ख होगी। शुक्लयजुर्वेदसंहिता के अयुग्मस्तोम होमात्मक मन्त्रसमूह, योगान्तर अथवा समान्तर श्रेढ़ी के (Arithmetical Progression) नियम ज्ञापक हैं।[1]

यदि कुछ राशि ऐसी हों कि उनमें से प्रत्येक अपनी-अपनी परवर्त्ती राशि के साथ समान अनुपात में हो, तब उनको गुणोत्तर श्रेढ़ी अथवा समगुण श्रेढ़ी (Geometrical Progression) कहते हैं।

2, 4, 8, 16, 32 अथवा $\frac{1}{2}$, $\frac{1}{4}$, $\frac{1}{8}$, $\frac{1}{16}$ इत्यादि ये गुणोत्तर श्रेढ़ी के दृष्टान्त हैं। अतएव श्रेढ़ी (Progression) योग गुण की ही प्रक्रिया विशेष है, यह समझ में आ गया।

अनुपात अथवा निष्पत्ति (Ratio), समानुपात अथवा समान निष्पत्ति (Proportion), श्रेढ़ी (Progression) इत्यदि गणित प्रक्रिया का स्वरूप-चिन्तन करने पर स्पष्ट प्रतीति होती है कि ये राशिसमूह के भिन्न-भिन्न रूप सम्बन्ध के निर्णायक हैं। जगत् ज्ञान सम्बन्धात्मक है। "यह ऐसा है, यह ऐसा नहीं है।" उत्पत्तिशील ज्ञान का यही स्वरूप है। इन वाक्यद्वय का तात्पर्य यह है कि यह अमुक ज्ञात पदार्थ के साथ इस सम्बन्ध में है। यह अमुक के समान अथवा असमान नहीं है। समान तथा असमान का क्या तात्पर्य है? जो अनुवृत्तिजनक धर्मविशिष्ट हैं, जिनको प्रत्यक्ष करने पर अनुवृत्त प्रत्यय का जन्म होता है,उसे हम समान कहते हैं और जो व्यावृत्त बुद्धिजनक धर्म विशिष्ट है, जिसे प्रत्यक्ष करने पर व्यावृत्त प्रत्यय उत्पन्न होता है, उसे हम असमान कहते हैं। कार्यकारणसम्बन्ध, तादात्म्यसम्बन्ध, दैशिक कालिक सम्बन्ध, परिणामगत सम्बन्ध (Relation of Quantity) इत्यादि सम्बन्ध ही साम्य-वैषम्य की प्रयोगभूमि है। सांख्य तथा परिणामगत साम्य-वैषम्य ही गणित का विचार्य विषय है। दो राशि के मध्य में क्षुद्रतर राशि को बृहत्तर का अंश कहने से विदित होगा कि

1. "एका॑चमेति॒स्रश्च॑मेति॒स्रश्च॑मे॒पञ्च॑चमे॒पञ्च॑चमेसु॒प्तच॑मे॒सु॒प्तच॑मे॒नव॑चमेनव॑चमु॒ऽएका॑दश-चमु॒ऽएका॑दशचमे॒ऽत्रयो॑दशचमे॒त्रयो॑दशचमे॒पञ्च॑दशचमे॒पञ्च॑दशचमेसु॒प्तद॑शचमेसु॒प्त-द॑शचमे॒नव॑दशचमेनव॑दशचमु॒ऽएक॑विंशतिश्च॑मु॒....."

—*शुक्लयजुर्वेदसंहिता*

क्षुद्रतर राशि बृहत्तर का अपवर्त्तन है। परिमापक है। अर्थात् बृहत्तर राशि किसी निर्दिष्ट क्षुद्रतर राशि द्वारा व्याप्त है।[1]

दो राशियों में बृहत्तर राशि को क्षुद्रतर राशि से अपवर्त्य अथवा गुणित (Multiple) कहने से समझना होगा कि बृहत्तर राशि क्षुद्रतर राशि से परिमेय है। अर्थात् बृहत्तर राशि किसी निर्दिष्टवार क्षुद्रतर राशि को धारण करती है। क्षुद्र-बृहत् का ज्ञान परिमाणगत असमानता का ज्ञान है। सजातीय दो राशि के परिणाम को लेकर परस्परतः जो सम्बन्ध है, उसे निष्पत्ति अथवा[2] अनुपात कहते हैं। जिन सब अनुपात में समता है, उनको समानुपात तथा समाननिष्पत्ति कहते हैं। छः के साथ 3 का जो सम्बन्ध है, वह सम्बन्ध छः के साथ 2 का नहीं है। तीन के सम्बन्ध में छः का बृहत्व जैसा है, दो के सम्बन्ध में उसका बृहत्व तदपेक्षा अधिकतर है। प्रथम स्थल में अनुपात 2, द्वितीय स्थल में अनुपात तीन है। कोई एक अग्रगामी अपने अनुगामी का जितना भाग अथवा जितना गुणित है, अपर एक अग्रगामी अपने अनुगामी का उतना भाग अथवा उतना गुणित होने पर दोनों का अनुपात समान हो जाता है। 4:6 जो अनुपात है, वह 2:3 अनुपात के समान है। राशि चतुष्टय में प्रथम राशि, द्वितीय राशि का जितना भाग अथवा जितना गुणित है, तृतीय, चतुर्थ राशि का उतना भाग अथवा गुणित होने पर, अर्थात् द्वितीय राशि के साथ प्रथम का जो अनुपात है, चतुर्थ के साथ तृतीय का वही अनुपात होने पर उक्त राशि को समानुपाती कहते हैं। $\frac{\text{क}}{\text{ख}} = \frac{\text{ग}}{\text{घ}}$ होने पर क, ख, ग, घ राशि को समानुपाती कहना होगा। किसी चार राशि के समानुपाती होने पर उनके आद्यस्थर (Extremes) का गुणनफल मध्यस्थ (Means द्वितीय अथवा तृतीय का) गुणनफल के समान होगा। समानुपात को किसी तीन राशि के व्यक्त रहने पर क घ = ख ग समीकरण होने से अव्यक्त चतुर्थ राशि निर्णीत हो जाती है। त्रैराशिक गणित विधि इसी सिद्धान्त के अनुसार है।

चार राशियों के मध्य में प्रथम तथा द्वितीय का अन्तर यदि तृतीय तथा चतुर्थ अन्तर के साथ समान हो, तब इन 4 राशि को पाटिकसमानुपाती (Arithmetical Proportionals) कहा गया है। 2, 5, 9, 12 राशि में प्रथम के साथ द्वितीय का जो अन्तर है, तृतीय के साथ चतुर्थ का वही अन्तर है। अतएव ये पाटिक समानुपाती हैं। चार पाटिक समानुपाती प्रधान धर्म होने से आद्यन्त का योगफल मध्यस्थ के (द्वितीय तथा तृतीय के) योगफल के समान होगा।

---

1. भास्कराचार्य स्वप्रणीत बीजगणित की कूट्ट नामक गणित-प्रक्रिया में अपवर्त्त (Measure) का यह लक्षण बताते हैं—
परस्परं भातिजतयोर्ययोयः शतस्तयोः स्यादपवर्त्तनं सः। गुणित (Multiple) को अपवर्त्य कहा गया है।
2. "एकराशेः सजातीयान्यराशिना प्रमाणात्मकः सम्बन्धो निष्पत्ति।" —*क्षेत्रतत्वदीपिका*

2 + 12 = 14; 5 + 9 = 14।

चार राशि में प्रथम राशि को द्वितीय राशि द्वारा भाग करने से जो भजनफल (Quotient) प्राप्त होता है, तृतीय राशि को चतुर्थ राशि से भाग करने पर जो भजनफल प्राप्त होता है, उसके समान हो, तब इन चार राशि को ज्यामितिक समानुपाती (Geometrical Proportional) कहा जाता है।

श्रेढ़ी तथा समानुपात (Progression and Proportion), इन द्विविध गणित प्रक्रिया का किंचित् आभास मिला। यह ज्ञात हो गया कि ये एकजातीय राशिसमूह के इतरेतर सम्बन्ध निर्णायक हैं। महामति भास्कराचार्य कहते हैं कि एकवर्णीय समीकरण, अनेक वर्ण समीकरण, मध्यमाहरण तथा भावित, यह बीज चतुष्टय ही गणित का सारांश है। संकलन, व्यवकलन, गुणन, भागहार, वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल इत्यादि समीकरण (Equations) प्रक्रिया के उपयोगी हैं।

जो सभी वस्तु प्रत्येक किसी एक वस्तु के समान है, वह परस्परतः भी समान है। समान-समान राशि में, समान-समान राशि का योग करने से समष्टि समान होगी। समान-समान राशि से समान-समान राशि का वियोग करने से अवशिष्ट भी परस्परतः समान होगा। तनिक विचार से यह ज्ञात होता है कि यही है गणित की साधारण प्रतीति। यही है गणितिक विचार अथवा उपपत्ति का मूल। तीनयुक्त चार बराबर सात = 3 + 4 = 7

तीनयुक्त चार जो सात हो गया उसका प्रमाण क्या है? 3 = 2 + 1 अथवा 1 + 1 + 1, अतएव 4 + 3 = 4 + 1 + 1 + 1; 4 +1 = 5; 5 + 1 = 6; 6 + 1 = 7।

समान-समान राशि में समान-समान राशि का योग करने से, समष्टि परस्परतः समान होगी। इस स्वतः सिद्धान्तानुसार 1 + 1 + 1 = 3, अतएव 4 + 1 + 1 + 1 = 4 + 3।

राशि-संख्या कौन पदार्थ है? व्याप्त्यर्थक 'अश्' धातु के उत्तर में 'इन्' प्रत्यय एवं सम् पूर्वक 'ख्या' धातु के उत्तर में अङ् तथा स्त्रीलिंग 'टाप्' प्रत्यय करके यथाक्रमेण राशि तथा संख्या पदद्वय सिद्ध होता है। मेदिनी में मेष (Aries), वृष (Taurus) प्रभृति का पुंज तथा समूह (Aggregates) रूप से (राशिसमूह का) यह दो अर्थ घृत होता है। गणन व्यवहार हेतु एक, दो, तीन इत्यादि को संख्या कहा गया है। जिसके द्वारा एक-दो अथवा ततोधिक वस्तु समझा जाये, उसे संख्या कहते हैं। गणितशास्त्र ने संख्या का यह लक्षण प्रदत्त किया है। संख्यात हो, सम्यग् रूप से कथित तथा ज्ञात हो जिससे सभी कार्य पदार्थ—वह संख्या है। यह संख्या का व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ है। क्रियाक्रम ही वास्तव में वस्तु संख्या है। विद्वान् बेन

(Bain) कहते हैं कि स्पन्दन क्रम अथवा दो, तीन आदि परिच्छिन्न विभक्त ज्ञान ही, पूर्वापरीभूत भावोपलब्धि ही, संख्या है।[1]

भगवान् पतंजलिदेव क्रम का जो लक्षण बताते हैं, उसे स्मरण करने से पाठक समझ जायेंगे कि क्रम तथा संख्या समान लक्षण हैं। गणना करने से किसी को भी आदिरूप से ग्रहण करके गणना करना होता है, अन्यथा गणना नहीं होती। गणना करने से जिस संख्या को आदिरूप से ग्रहण करके गणना आरम्भ होती है, उस संख्या को एकक कहते हैं। जिस राशि से कोई परिच्छेद, कोई प्रमेय परिणाम (Any measurable quantity) व्यक्त, निरूपित तथा प्रमित होता है अथवा परिच्छिन्न (Represented) होता है, वह जब उक्त परिणाम का माननिरूपक, एककाधीन, कल्पित एककापेक्ष हो जाता है, तब यह सिद्धान्त होता है कि निखिल परिच्छेद्य अथवा प्रमेय परिणाम की प्रचयापचय अथवा उत्कर्षापकर्ष ज्ञापक राशि माननिरूपक कल्पित एकक की मात्रा के अनुसार ही व्यक्त, निरूपित अथवा परिच्छिन्न हो जाती है। गणना कार्य जो पूर्वापरांश शून्यरूपेण गृहीत होता है, वही है एकक (unit) पदार्थ।

विद्वान् Locke प्रभृति प्रमुख दार्शनिकगण कहते हैं कि संख्या काल अथवा क्रियाक्रम से जन्मलाभ करती है। दैशिक तथा कालिक परिच्छेद ही गणित हो जाता है। प्रशस्तपाद कहते हैं कि एक द्रव्य (एक द्रव्यवृत्ति) तथा अनेक द्रव्य (अनेक द्रव्यवृत्ति) रूप से संख्या को दो भाग में विभक्त किया गया है। अनेक द्रव्य संख्या द्वित्वादि परार्द्धान्ता है। अनेक विषय बुद्धि युक्त (Unity) से द्वित्वादि- परार्द्धान्ता संख्या की निष्पत्ति होती है। द्वित्वादिपरार्द्धान्ता संख्या वास्तव में काल्पनिक हैं। हमारे मानस प्रसूत हैं। एकत्व ही द्रव्यनिष्ठ संख्या है। प्रत्येक द्रव्य ही एकक है। प्रत्येक द्रव्य ही भिन्न-भिन्न सत् है। तब हम उनकी जब परस्परतः संयुक्त रूप से कल्पना करते हैं, आकाशव्यतिभिन्न होने पर भी, कालिक व्यवधान रहने पर भी, उन्हें समन्वित मानते हैं, तब दो-तीन-चार इस प्रकार से संख्यात गणित होता है।

$1 + 1; 1 + 1 + 1; 1 + 1 + 1 + 1;$

इसी कारण वैशेषिक दर्शन में 2-3 इत्यादि को अपेक्षाबुद्धिज कहा है। विषयेन्द्रिय सन्निकर्षजनित एक रूप (बुद्धि में अभिन्नरूपेण प्रतिफलित) क्रियानुभूति

---

1. 'For number we identify a succession of beats or remitted impressions as two or three.'—*Logic*, Part II, Page 200, by Bain
Since in general the number by which any measureable quantity is represented depends upon the unit with which the quantity is compared, it follows that a finite magnitude may be represented by a very great, or by a very small number, according to the unit to which it is referred.

—*An Elementary Treasure of the Differential Calculus* by Williamson, Page 36

ही एक शब्द द्वारा उक्त तथा ज्ञात होती है। ऐन्द्रियक प्रत्यय की एकतानता, अविच्छिन्न प्रवाह (Continuity) एकत्वज्ञान की प्रसूति है। इसका विच्छेद ही द्वित्वादि अनेक द्रव्य वृत्ति संख्या ज्ञान का जनक है।

पहले कहा गया कि गणना करने में किसी को आदिरूप से ग्रहणपूर्वक गणना करना होता है। गणना करने के लिए किसी को भी आदिरूप से ग्रहण करके गणना करना होता है, उसका कारण क्या है? जो संख्यात या गणित होता है, वह कार्य-पदार्थ (Function) है, वह आद्यन्तविशिष्ट है। वह उपक्रम (Begining) से अपवर्ग अथवा अवसान (End) पर्यन्त पूर्वापरीभूत भाव विकार है। अतएव किसी कार्यपदार्थ का स्वरूपावलोकन करने के लिए, किसी क्रिया अथवा कार्यपदार्थ की गणना करने के लिए, उसके आद्यन्त के स्वरूप दर्शन का प्रयोजन है। उसकी पूर्वापरांशशून्य अवस्था विशेष (Independent Variable) का एकक रूपेण ग्रहण कर्त्तव्य है। महाभाष्यकार भगवान् पतंजलिदेव कहते हैं कि पूर्वापरीभूत विकार में जिस प्रकार से विकार का अन्य पूर्ववर्ती भाव लक्षित नहीं होता, उसे आदि नाम से तथा जिसका अन्य परवर्ती भाव बुद्धिगोचर नहीं होता उसे अन्त नाम से अभिहित किया जाता है। अत: गणना करने के लिए किसी को आदिरूपेण ग्रहण करना ही होगा। एकक (Unit) के मान के अनुसार ही अखिल गणनीय अथवा संख्येय पदार्थ की सभी क्रिया का मान अवधारित होता है।

भिन्न-भिन्न विज्ञान शाखा का प्रयोजन तथा शक्तिभेद से भिन्न-भिन्न एकक कल्पित होता है। भूततन्त्र अणु (Molecule) को, रासायनिक विद्वान् परमाणु को, शारीरतत्वज्ञ (Cell) सेल को एकक मानते हैं। पाश्चात्य विज्ञान ने सेकेण्ड को समय के एककरूप में माना है।[1] मानव स्व-स्व प्रयोजन अथवा बुद्धि के अनुसार भिन्न-भिन्न एकक की मात्रा की कल्पना अवश्य करते हैं। व्यावहारिक बुद्धि से भी सार्वभौम, स्थिर एककावधारण सम्भव नहीं है। तथापि प्रत्येक परिणाम के पदार्थ का, प्रत्येक गुणवृत्त का प्राकृतिक एकक है, यह नि:संदिग्ध है। खण्डकाल, खण्डदिक्, वेग, गति, मूर्तद्रव्य अथवा सामग्री, घनत्व (Time, Space, Velocity, Motion, Mass, Density) इत्यादि इसके प्रमेय, संख्येय अथवा गणनीय पदार्थ हैं।

जो ज्यामिति अथवा रेखागणित का अध्ययन करते हैं, वे बिन्दु (Point), रेखा (Line) तल अथवा पृष्ठ (Surface), घन अथवा पिण्ड (Solid) इत्यादि शब्द के अर्थ से अवगत हैं। इसमें सन्देह नहीं है। रेखा बिन्दु समष्टि है। रेखा का विभाग करने से बिन्दुसमूह के अतिरिक्त कुछ भी नहीं बचता। बिन्दु

---

1. The second is universally employed as the unit of time in treating of sonorous vibrations; so that frequency means number of vibrations per second.

—*Natural Philosophy* by Deschanel, Part IV, Page 7

(Point) के परिचालित (By the Movement) होने से रेखा बन जाती है। रेखा के परिचलन से Surface (तल) अंकित होता है। तल के परिचालन से घन अंकित होता है। घन के परिचालन से पुनः घन ही अंकित होता है। अतः बिन्दु-समूह ही अखिल ज्यामितिक संस्थान का मूल एकक है। कोई भी ज्यामिति संस्थान क्यों न हो, वह है रेखा परिच्छिन्न आकाश अथवा दिक् (Space)। विज्ञान सरल रेखा अथवा प्रस्थविहीन दैर्घ्य, काल तथा सामग्री (Length, Tune and Mass), इन तीन के एकक को जड़शक्ति का मूल एकक कहता है। जो अन्य एकक अन्य एककों से सम्भूत हैं, अन्य एककाश्रित हैं, जो सब एकक सापेक्ष हैं, वे कृतक अथवा कल्पित (Derived Units) हैं। जो निरपेक्ष हैं, वे हैं मूल एकक (Fundamental Units)।[1]

पहले कहा गया है कि गणित को कालविज्ञान तथा दिग्विज्ञान रूप भागद्वय में विभक्त किया गया है। भगवान् पराशर गणित को खगोल गणित तथा भूगोल गणित (Celestial Mathematics and Terrestrial Mathematics) इन भागद्वय में विभक्त करते हैं।[2] इससे कालविज्ञान तथा दिक्विज्ञान विभाग में कोई बाधा नहीं होती। पाटीगणित तथा बीजगणित के रूप को यथा प्रयोजन देखा गया। अब ज्यामिति का रूपदर्शन करना होगा। दैशिक धर्म समूह का अनुसन्धान ही ज्यामिति शास्त्र का उद्देश्य (The object of Geometry is to investigate the properties of space) है। इस शास्त्र को प्रारंभक (Elementary) तथा उच्चतर (Higher) रूप भागद्वय में विभक्त किया गया है।

Euclide's यूल्कीड्स की ज्यामिति, ज्यामितिकशास्त्र की प्रारम्भिक शाखा है। शङ्कुच्छेदक तथा कतिपय अन्यान्य वक्र के धर्म (The properties of the conic sections and a few other curves) जिस शाखा से विवृत हो रहे हैं, ज्यामितिशास्त्र वृक्ष की वह उच्चतर शाखा है। ज्यामिति वृक्ष की छेदक विषयक (Projective) तथा प्रारम्भक शाखा में इतरव्यावर्त्तक धर्म क्या है?

ज्यामिति की प्रारम्भक शाखा की प्रतिज्ञा है रेखा (Lines), कोण (Angles), क्षेत्रफल (Areas) जो सभी परिमाप विषयक हैं। किसी समकोण

---

1. Since the units of areas and volume dependen that of length, they are said to be derived units, while the unit of length is called a fundamental unit. Another fundamental unit is the unit of time, usually denoted by (T). The third fundamental unit is the unit of man...
   Any man is said to be one dimension the man. These are the three fundamental units; all other units depend on these three and are therefore derived units. — *Dynamics* By S.L. Lency, Page 178
2. द्विविधं गणित्वं ज्ञात्वा शाखास्कन्धं विमृश्ययत् —*बृहत्पाराशर होरा,* उत्तर भाग
   तथा
   यः द्विविधं खगोलभूगोलविषयं गणितं ज्ञात्वा —*बृहत्पाराशर होरा टीका*

में रेखाद्वय समानान्तर हो (Parrallel हो) यह सभी निर्देश परिमापमूलक है। किन्तु एक सरल रेखा किसी एक वृत्त (Circle) को काटे नहीं, इसमें परिमाप का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रश्न का समाधान उक्त रेखा अथवा वृत्त के केवल परस्पर-स्थित्यपेक्ष्य विचार द्वारा ही होगा। किसी एक क्षेत्र (Figure) को एक आधार से अन्य आधार में परिलिखित करने से प्रारम्भक ज्यामिति तथा छेद्यकविषयक ज्यामिति का पार्थक्य स्पष्टत: उपलब्ध हो जायेगा। ऐसा करने से उक्त क्षेत्र की रेखाओं का विस्तार, कोणों का परिमाण तथा क्षेत्रफल परिवर्तित होगा। एक समचतुर्भुज क्षेत्र को परिलिखित करने पर उसका परिलेख (Shadow) समचतुर्भुज न होकर चतुर्भुज विशेष होगा। इसी प्रकार वृत्त का परिलेख भी ठीक वृत्त न होकर अल्पाधिक वृत्त सदृश वक्राकार हो जायेगा। परिलेखन में क्षेत्रसमूह के कतिपय धर्मों का परिवर्तन नहीं होता, कतिपय का परिवर्तन हो जाता है। कोई सरल रेखा वृत्त परिलेख के दो से अधिक स्थान को नहीं काट सकती। परिलेख में यह एक अपिरवर्तनीय धर्म का दृष्टान्त है। परिलेख में क्षेत्रसमूह के परिमाप का परिवर्तन हो जाता है। शंकुच्छेदक (Conic Section) छेद्यविषयक ज्यामिति के अन्तर्भूत है।

प्रमाण ही उत्पत्तिशील ज्ञान का करण अथवा साधन है। प्रमाण द्वारा ही विज्ञान की उत्पत्ति होती है। शास्त्रपाठ से प्रत्यक्ष-अनुमान-उपमान तथा आप्तोपदेश इत्यादि प्रमाणों का संवाद मिलता है। अन्य प्रमाणों के वर्णन करने का यह उपयुक्त स्थल नहीं है। यहाँ प्रसंगत: केवल अनुमान प्रमाण के सम्बन्ध में एक-दो बातें कहना है।

मित अथवा प्रसिद्ध लिंग द्वारा किसी अज्ञात अर्थ का जो मान निरूपण है, वह है अनुमान (Inference)। व्याप्तिज्ञान तथा लिंगपरामर्श, अनुमिति के यह दो करण हैं। जहाँ-जहाँ धूम है (धुआँ है), वहाँ अग्नि है, क्योंकि धूम के साथ अग्नि के इस साहचर्य नियम (Invariable Concomitance) का नाम है व्याप्ति। व्याप्ति का ज्ञान = व्याप्ति ज्ञान। पर्वत में धूम देख कर जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ वह्नि है (अग्नि है)। इस व्याप्ति साहचर्य नियम का स्मरण होने से यह बोध होता है कि वह्नि से व्याप्य धूमवान पर्वत वह्निमान है। इसे परामर्श कहा गया है। न्यायशास्त्र ने अनुमान को पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतया दृष्ट रूप से भागत्रय में विभक्त किया है। नव्यन्याय में इन त्रिविध अनुमान को केवलान्वयी, केवलाव्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी (यथाक्रम से) कहते हैं। भगवान् कपिल कहते हैं कि प्रतिबद्ध व्याप्ति दर्शन से व्यापक का जो ज्ञान है वह अनुमान है।[1]

1. मितेन लिङ्गेनार्थसत् पश्चाम्मानमनुमानम् —*वात्सायन भाष्य*। 'प्रत्यक्षेणा प्रत्यक्षसिद्धेः' —*न्यायदर्शन*, 2/2/44

अनुमितिकरणं द्विविधनम्। तत्रप्रथमं व्याप्तिज्ञानम्-'द्वितीय तु लिङ्गपरामर्शः।' —*तर्ककौमुदी*

'व्याप्ति विशिष्ट पक्षाधर्मज्ञानम् परामर्श' —*तर्क संग्रह*

प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम् — *सांख्यदर्शन*

विद्वान् गिल कहते हैं कि किसी ज्ञात तथ्य द्वारा उससे भिन्न तथ्यान्तर में उपनीत होने का नाम है इनफरेन्स (Inference)। यूबरवेग (Ueberweg) कहते हैं कि एक अथवा उससे अधिक ज्ञात तत्व से किसी प्रकार के विज्ञान समागम का नाम है इन्फरेन्स। अवनयात्मक तथा उन्नयनात्मक (Deductive and Inductive) भेद से पाश्चात्य नैयायिकगण अनुमान को भागद्वय में विभक्त करते हैं। कतिपय विशेष अथवा अपर सामान्य प्रसंग से एक अपर सामान्य अथवा विशेष प्रसंग की अनुमिति को अवनयन कहते हैं। गणित विज्ञान अवनयन-सिद्ध अनुमान से जन्म लेता है। ज्यामिति की प्रतिज्ञा सम्पाद्य तथा उपपाद्य (Problem and Theorem) प्रकार की है। जिस प्रतिज्ञा में किसी क्रिया को निष्पन्न करना होता है, अर्थात् किसी ज्यामितिक (Geometrical) रेखा अथवा क्षेत्र को अंकित करना होता है, उसे सम्पाद्य कहते हैं। जिसमें किसी विषय की सिद्धता दिखलाना होता है, किसी ज्यामितिक क्षेत्र में किसी विशेष धर्म का प्रमाण करना होता है, उसे उपपाद्य कहते हैं। सभी संज्ञा ज्यामिति की मूल है। यह स्वीकृत विषयों के अंकन की मूल है तथा स्वतःसिद्ध सभी उपपत्ति की भी मूल है। ज्यामिति की स्वतःसिद्ध उपपत्ति केवल ज्यामिति की ही उपपत्ति नहीं है, यह समस्त उपपत्ति तथा विचार मात्र का मूल है।

यह पहले कहा जा चुका है कि समानता तथा असमानता गणित का प्रतिपाद्य विषय है। यूक्लिड के प्रथम चार अध्याय में यह निर्णीत किया गया है कि ज्यामितिक राशियाँ किस अवस्था में परस्परतः समान होती हैं, तथा कौन-सी अवस्था में परस्परतः समान नहीं होतीं। इसके पंचम अध्याय में राशिसमूह के सम्बन्ध निर्णय का उपाय निश्चित किया गया है। प्रथम चार अध्याय में राशि शब्द से उसका तात्पर्य है जिसका दैर्घ्य तथा विस्तार है, उसे ही बताया गया है। किन्तु पंचम अध्योक्त राशि का यही अर्थ नहीं है। पंचम अध्याय में राशि शब्द उस पदार्थ का वाचक है, जिस पदार्थ का अपवर्त्य अथवा गुणित कल्पित हो सके। पंचम अध्याय में राशिसमूह के सम्बन्धविनिर्णयार्थ अनुपात (Ratio) तथा समानुपात (Proportion) विधि प्रकटित की गयी है। षष्ठ अध्याय में सदृश तथा विसदृश ऋजुरैखिक क्षेत्रों (Plane Rectilineal Figures) तथा उनकी बाहुओं के परस्पर सम्बन्ध को स्थिर करने के लिए विविध प्रयोग किये गये हैं। त्रिभुज तथा समान्तर रैखिक क्षेत्रों का एक ही औन्नत्य (Altitude) होने पर त्रिभुज का अनुपात तथा समान्तर रैखिक क्षेत्रों का अनुपात भूमि के अनुपात के अनुसार हो जाता है। यह है षष्ठ अध्याय का प्रथम साध्य निर्देष। प्रथम उपपाद्य प्रतिज्ञा। इस प्रतिज्ञा की उपपत्ति समानुपात की विधि के अवलम्बन के अनुसार होती है। यह सभी को ज्ञात है।

यूक्लिड की ज्यामिति के षष्ठ तथा एकादश अध्याय के मध्यवर्ती चार अध्यायों में पाटीगणित सम्बन्धित कतिपय नियम तथा प्रतिज्ञा प्रकटित

हुई है।[1] यूक्लिड के प्रथम छः अध्याय में एक ही समतल में अंकित नानाविधि सरल रैखिक क्षेत्र तथा वृत्त के विषय लिखे गये हैं। एकादश अध्याय में विभिन्न समतलस्थ रेखा तथा क्षेत्र से सम्बन्धित, धनकोण तथा घनक्षेत्र की प्रकृतिविषयक प्रतिज्ञासमूह का अंकन है। द्वादश अध्याय में छेदित घनक्षेत्र, स्तम्भ सूची (Pyramid) तथा वृत्तसूची का विषय लिखा गया है। इन सब क्षेत्र की प्रकृति तथा परस्पर सम्बन्ध निर्णयार्थ वियोग विधि (The Method of Exhaustions) नामक एक नूतन प्रणाली ऊपर अवलम्बित है।

ज्यामिति सम्बन्ध में जहाँ तक चिन्ता की गई, उससे स्पष्ट होता है कि ज्यामितिशास्त्र दैशिकसम्बन्ध निर्णायक है। क्षेत्रसमूह का सम्बन्ध ही ज्यामिति का प्रयोजन है। क्षेत्र कौन पदार्थ है? एक अथवा उससे अधिक सीमा द्वारा परिबद्ध स्थान का नाम है क्षेत्र। कैसे क्षेत्र की उत्पत्ति होती है? क्षेत्र नामक पदार्थ के उपादन तथा निमित्त का कारण क्या है?

भगवान् गौतम तथा वात्स्यायन मुनि कहते हैं कि रेखा के बिन्दु समष्टि के परिच्छिन्न संस्थान विशेष ही त्रिकोण, चतुरस्र, सम, परिमण्डल इत्यादि क्षेत्र हैं।[2] आकाश अथवा दिक् और बिन्दु संस्थान मात्र के ये दो उपादान हैं। बिन्दु के परिचालन से रेखा अंकित होती है। रेखा के परिचालन से रेखा अथवा तल अंकित होता है। तल के परिचालन से तल अथवा घन अंकित होता है। घन के परिचालन से घन ही अंकित होता है और अन्य कुछ अंकित नहीं होता। घनक्षेत्र दैर्घ्य, विस्तार, वेध इन तीन रूप परिणाम से युक्त है। (परिणाम = Dimension)। तल में दैर्ध्य तथा विस्तार परिणाम है। रेखा में मात्र एक ही परिणाम है। विद्वान् हेमहोल्ज काल को एक परिणाम वाला तथा जिस आकाशगर्भ में हम वास करते हैं, उसे दैर्घ्य, विस्तार तथा वेधरूप त्रिविध परिणामयुक्त कहते हैं।[3]

---

1. ज्यामिति का सप्तमादि अध्याय मिस्र देश के सिकन्दरिया नगर में दग्ध हो गया था। विदेशी खोज करने वालों का यह प्रवाद हमारे विचार से सत्य पर आधारित नहीं है। समग्र ग्रन्थ से चार ही अध्याय जला, शेष नहीं जला, हमारी समझ के बाहर की बात है। हमारा विचार है कि पाटीगणित (अर्थमेटिक) तथा बीजगणित के क्रोड में लीन होने के कारण इनके अलग से अनुशीलन के प्रयोजनाभाव की उपलब्धि के कारण यह चारों अध्याय प्रचार के अभाव के कारण क्रमशः अस्तमित हो गये। जगन्नाथ विरचित रेखागणित के 15 अध्याय ही अभी तक बचे हैं। ज्यामिति मूलतः भारत की सम्पत्ति है। इसमें कोई सन्देह नहीं है।
2. मूर्तिमताश्च संस्थानोपपत्तिरवयवसद्भावः —*न्यायदर्शन*
परिच्छिन्नानां हि स्पर्शवतां संस्थान त्रिकोणं चतुरस्रं समं परिमण्डलमित्युपपद्यते
—*वात्स्यायन*
3. Thus the space in which we live is a threefold, a surface is a twofold, and a line is a simple extended aggregate or points. Time also in an aggregate of one dimension.
—*Popular Scientific Lectures*, Vol. II, Page 46

एक रेखा ही विविध भाव से परिच्छिन्न होकर विविध आकार धारण करती है। ऋग्वेद संहिता के अनुसार—"मघवा अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्म माया द्वारा अपने तनु को नाना प्रकार से परिच्छिन्न करते हैं। एक होने पर भी माया द्वारा अनेक रूपों में प्रतिभात होते हैं। नानारूपेण परिच्छिन्न ब्रह्मतनु ही जगत् है।" भगवान् वेदव्यास कहते हैं कि एक स्त्री जैसे स्वामी के साथ स्त्री संज्ञा है, माता-पिता के समक्ष कन्या है, भाई के साथ बहन है, उसी प्रकार एक रेखा शत स्थान में शतरूप से, दश स्थान में दशरूप से, तथा एक स्थान में एक रूप से गृहीत होती है।

रेखा बिन्दु समष्टि है, यह समझ में आया, किन्तु रेखा को बिन्दु समष्टि कहने से क्या यह सम्यग् विदित होता है कि यह कौन पदार्थ है? निश्चय ही ऐसा नहीं विदित होता। रेखा वस्तुतः सम्मूर्च्छित शक्ति अथवा मूर्त्त क्रिया है। अमूर्त्त क्रिया की मूर्त्तावस्था प्राप्ति का तत्वचिन्तन करने से ज्ञात होता है कि रेखा कौन पदार्थ है?

जो गतिविज्ञान का अध्ययन करते हैं, वे जानते हैं कि किसी गति का तत्वानुसन्धान करने के लिए प्राप्त बिन्दु या लक्ष्यस्थल, आद्यबिन्दु तथा प्राप्तबिन्दु की मध्यवर्त्ती स्थानव्यापी रेखा, तथा बिन्दसमूहन, इन तीन विषयों का तत्व-चिन्तन आवश्यक है। शक्ति अथवा बलमात्र भी किसी न किसी बिन्दु में ही प्रयुक्त होते हैं। सभी बल (शक्ति) किसी न किसी निर्दिष्ट दिशा में आकर्षण करता है। सभी बल द्वारा कुछ समान कार्य नहीं होता। प्रत्युत् भिन्न-भिन्न बल द्वारा भिन्न-भिन्न परिणाम होते हैं। अतः देखा जाता है कि प्रयोगबिन्दु, दिक् तथा परिणाम ये तीनों बल के ही अंग हैं। रेखा द्वारा बल के इन त्रिविध अंगों को व्यक्त किया गया है अथवा व्यक्त किया जा सकता है।

एक सरल रेखा सम्बन्धित तत्व जिज्ञासा परिपूर्ण करने के लिए प्रान्तबिन्दु (The Extremity of Line) का, आद्यबिन्दु से प्रसारित रेखा के प्रान्तबिन्दु की ओर अभिमुख गति (The Direction of the Line) का तथा आद्य एवं प्रान्तबिन्दु के मध्यवर्ती देश की बिन्दु व्याप्ति-रेखा सन्तति का (Length of the Line), तत्व निश्चित करना होता है।

बिन्दु के परिचालन से किस प्रकार से रेखा अंकित होती है, रेखा के परिचालन से कैसे तल अंकित होता है, तथा तल के परिचालन से कैसे घन अंकित होता है, यह ज्यामिति को पढ़ने से ज्ञात हो सकेगा। यहाँ इतना ही कहना है कि ज्यामिति से किसी देशिक परिच्छेद का, किसी संस्थान का मूलकारणानुसंधान नहीं होता। बिन्दुसमूह के परस्पर संहत होने से जो रेखा उत्पन्न होती है, उसका ज्ञान ज्यामिति के अध्ययन से हो जाता है, किन्तु वास्तव में बिन्दु कौन पदार्थ है और बिन्दुसमूह क्यों परस्पर संहत होते हैं, रेखाओं की गति तथा दैशिक अवच्छेद विभेद का हेतु क्या है, इत्यादि प्रश्नों का समाधान ज्यामितिशास्त्र से नहीं होता। जहाँ संयोग-वियोग का रूप दृष्टिगोचर होता है, वहाँ संयोगविभाग कारण के संसर्ग का तथा भेदवृत्तिशक्ति के अस्तित्व का अनुमान करना होता है। जब बिन्दुसमूह

परस्परतः संयुक्त होते हैं, तब इनमें संसर्गवृत्ति शक्ति क्रिया करती है। तब यह कहना ही होगा कि ये आकर्षण-शक्तियुक्त हैं।

हमने पहले ही कहा है कि संकलन-व्यवकलन तथा समीकरणरूपी त्रिविध प्रक्रिया पाटीगणित (अंकगणित) तथा अंकगणित से साधित होती है। गुणन तथा भागहार, संकलन, व्यवकलन ही प्रक्रियाभेद है, यह विदित हो गया। संकलन तथा व्यवकलन क्रिया का रूप है। जगत् क्रिया मूर्त्ति है। अतएव संकलन तथा व्यवकलन को जगत् का रूप कहा जा सकता है। समीकरण ही ज्ञान का साधन है। यह तथ्य पहले ही विवेचना द्वारा प्रतिपन्न किया गया है। जो वास्तव में समान हैं, उन्हें समीकृत करने के लिए उद्यत होने पर असमान पदार्थसमूह का समीकरण नहीं हो सकता। वास्तव में समान पदार्थ समूह की समानता आपात् दृष्टि से सर्वदा उपलब्ध नहीं होती। समीकरण प्रक्रिया से वास्तव में समान पदार्थों की अप्रकटित समानता प्रकट नहीं होती। जो वस्तुसमूह प्रत्येक किसी एक वस्तु के समान है, (अर्थात् उस वस्तुसमूह की एक-एक वस्तु किसी एक-एक वस्तु के समान है) वे परस्पर समान हैं। समान-समान राशि में समान-समान राशि का योग करने से वह वस्तु समष्टि परस्पर समान होगी। इसी प्रकार समान-समान राशि से समान-समान राशि को घटाने से (वियोग कर देने से) जो बाकी बचेगा, वह समान होगा। एक राशि अथवा समान-समान राशि का अपवर्त्त्य भी परस्पर समान होता है। जिस-जिस राशि का समअपवर्त्य एक ही राशि है अथवा समान-समान राशि है, वे परस्पर समान हैं। ज्यामितिशास्त्र इत्यादि स्वत:सिद्ध के आश्रय से समीकरण प्रक्रिया का ही साधन करते हैं। शंकुच्छेदक (Conic Section), वैश्लेषणिक ज्यामिति (Analytical Geometry), त्रिकोणमिति (ट्रिगनामेट्री) भी समीकरण क्रियामूलक है।

किसी समकोण त्रिभुज के समकोण की पार्श्ववर्त्ती दो बाहु में से एक को स्थिर रखकर उसके चारों ओर त्रिभुज को घूर्णित करने से जो घनक्षेत्र उत्पन्न होता है, उसे शंकु अथवा वृत्तसूची (Cone) कहते हैं। जिस स्थिर भावापन्न रेखा का त्रिभुज परिवेष्ठन करता है, उसका नाम शंकु का अक्ष अथवा वृत्त सूची शलका है (The fixed side is called the axis of the cone)। क्षेत्रसमूह द्वारा शंकु अथवा वृत्तसूची का छेदन होने से च्छेदित शंकुसमूह की उत्पत्ति होती है। छेदक क्षेत्र (Cutting Place) तथा वृत्तसूची शलाका अथवा अक्ष (Axis) का मध्यवर्त्ती कोण, यदि वृत्तसूची शलाका अथवा अक्ष एवं शंकु अथवा वृत्तसूची-निर्मापक त्रिभुज की भ्रमणशील बाहु के मध्यवर्ती कोण के समान हों, ऐसी स्थिति में वृत्तसूची तलांकित छेदित क्षेत्र (Section) अनुवृत्त (Prabola) होगा।[1] यदि प्रथम कोण

1. पैराबोला (Parabola) शब्द पर (Para) एवं वेल्लो (Ballo) इन शब्दद्वय के योग से उत्पन्न होता है। पर शब्द का अर्थ है पार्श्व-समीप-अमितः एवं वेल्लो शब्द का अर्थ है प्रक्षेप-स्थापन। संस्कृत 'बल' धातु के साथ वेल्ला सदृश ज्ञात होता है। ज्योतिषशास्त्र के 'वलन' शब्द का अर्थ ज्ञातव्य है।

द्वितीय कोण से बृहत्तर हो, तब छेदित क्षेत्र अण्डाकृति (Ellipse) होगा। यदि क्षुद्रतर हो, तब स्थूलवृत्त (Hyperbola) होगा।[1]

यदि कोई एक बिन्दु अन्य क्षेत्र में इस प्रकार से परिभ्रमण करे, उक्त क्षेत्रस्थ कोई स्थिर बिन्दु अथवा कोई सरल रेखा इन दोनों से इनकी दूरवर्त्तिता (Distance) के स्थिर अनुपात में रहे, तब वह उक्त बिन्दुच्छेदित शंकु अथवा वृत्तसूची (Conic Section) रूप से उपलब्ध होगा। शंकुच्छेदकशास्त्र में उक्त स्थिर बिन्दु को अक्षकेन्द्र (Focus) संज्ञा से, स्थिर सरल रेखा को नियामिका (Directrix) नाम से, स्थिर अनुपात अथवा निष्पत्ति को (The Constant Ratio) उत्सूत्रता (Eccentricity) संज्ञा से सम्बोधित किया गया है। उत्सूत्रता तथा स्थिर अनुपात (निष्पत्ति) जब एक समान हो जाती है, तब च्छेदित शंकु को अनुवृत्त (Parabola) कहा जाता है। जब एकत्व से छुद्रतर हो जाता है, तब इसे अण्डाकृति (Ellipse) कहते हैं। जब यह एकत्व से बृहत्तर रहता है, तब स्थूलवृत्त (Hyperbola) कहा जाता है। शकुच्छेदकशास्त्र क्षेत्र समीकरण प्रक्रिया प्रतिपाद्य है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

त्रिकोण की तीन भुजा तथा तीन कोण, ये षड्वयव हैं। जिस शास्त्र द्वारा त्रिभुज क्षेत्र का तथा उसके यावतीय अंग का अर्थात् कोण तथा बाहुओं का परिणाम स्थिर किया जाता है, उसे त्रिकोणमिति (Trignometry) कहते हैं। त्रिभुज क्षेत्र समतल में अथवा वर्त्तुल पृष्ठ में अवस्थान कर सकता है। त्रिभुज के इसी अवस्थिति भेद के अनुसार त्रिकोणमिति को सामतलिक त्रिकोणमिति (Plane Trignometry) तथा वार्त्तुलिक त्रिकोणमिति (Spherical Trignometry) रूप से भागद्वय में विभक्त किया गया।

ज्यामिति में कहा गया है कि विभिन्नमुखी दो रेखाओं के संलग्न होने पर उनके अन्योन्य प्रावण्य अथवा परस्पर अवनति को कोण कहते हैं। त्रिकोणमिति में व्यवहृत कोण शब्द इस रूप लक्षण से लक्षित नहीं होता। यदि कोण सरल रेखा को एक प्रान्त में स्थिर रखकर अन्य प्रान्त को घुमाकर स्थानान्तर में ले जाये, तब उसके प्रथम तथा द्वितीय अवस्थान द्वारा जो विसारण उत्पन्न होता है, त्रिकोणमितितंत्र में उसे कोण शब्द से लक्ष्य किया गया है। ज्यामिति की संज्ञानुसार कोई कोण दो समकोण में नहीं बढ़ सकता अथवा उसकी अपेक्षा बृहत्तर नहीं हो सकता। त्रिकोणमिति के कोण 2, 3, 4 समकोण की अपेक्षा

1. It may easily be proved that if the angle between the cutting plane and the axis be equal to the angle between the axis and the revolving side of the triangle which generates the cone, the section be greater than the later, the curve will be an ellipse; and if less, the section will be hyperbola.

—*The Romance of Mathematics* by P. Hampson, Page 21

बृहत्तर हो सकते हैं। (अर्थात् ज्यामिति के नहीं हो सकते, त्रिकोणमिति के बृहत्तर हो सकते हैं।)

जो राशि जिनके मिलन से उत्पन्न होती है, जिस राशि का जो घटकावयव है, वह राशि उसका कार्य (Function) है। 'क' यदि 'ख' तथा 'ग' के मिलन से उत्पन्न है, तब 'क' को 'ख' तथा 'ग' का कार्य कहना होगा। दो राशि जब इस प्रकार परस्पर सम्बध से उपलब्ध होती है, एक के किसी परिवर्तन से अन्य के अनुरूप कोई परिवर्तन संघटित होता है, तब शेषोक्त को साधारणतः प्रथमोक्त के कार्यरूप में अवधारित किया जाता है।[1] ज्या (Sine), कोटिज्या (Cosine), स्पशरेखा (Tangent), कोटिस्पर्शरेखा (Cotangent), छेदनरेखा (Secant), कोटिच्छेदनरेखा (Cosecant) इत्यादि कोणीय पदार्थ का मान, कोण के परिवर्तन से परिवर्तित हो जाता है। कोण के मान से इनका मान निश्चित होता है। अतएव ज्या, कोटिज्या इत्यादि को यथोक्त लक्षण के अनुसार कोण का कार्य (Functions of Angles) कहा जा सकता है। जो भी हो, त्रिकोणमितितन्त्र ही त्रैकोणमितिक-विकरण समूह का सम्बन्ध निर्णायक है, यह स्पष्ट है।

इसके अनन्तर स्थितिविज्ञान अथवा गति (बल) विज्ञान (Statics and Dynamics) का परिचय होता है। विज्ञान को स्थितिविज्ञान तथा गतिविज्ञान रूप भागद्वय में विभक्त करना संगत है। क्योंकि जगत् का ज्ञान परिवर्तन का ज्ञान है। परिवर्तन होता है स्थिति तथा गति विज्ञानात्मक। जो शास्त्र स्थितिशील अथवा स्थिर वस्तु समूह पर बल के क्रियातत्व की व्याख्या करता है, वह स्थितिविज्ञान (Statics) तथा जो चलिष्णु वस्तुसमूह पर बल के क्रियातत्व का विवरण करता है, उसे गतिविज्ञान (बलविज्ञान Dynamics) कहते हैं।

परिदृश्यमान प्रकृति गर्भ में क्या है, किस-किस वस्तु की सत्ता हमारे ज्ञान की विषयीभूत हो सकती है, प्रत्यक्ष प्रमाण निर्णेय प्रकृतिगर्भ में विद्यमान पदार्थों का क्या प्रयोजन है, तथा जो पदार्थ हमारे ज्ञान के विषयीभूत हैं उनको हम जैसे गठित, सम्मूर्च्छित देखते हैं, वे तद्भाव से गठित अथवा सम्मूर्च्छित तथा तदाकार से परिच्छिन्न क्यों हो गये? पहले कहा गया है कि प्राकृतिक विज्ञान (Natural Science) इन सभी विषयों का अनुसन्धान करता है। गणिततन्त्र, भूततन्त्र, रसायनतन्त्र, जीवविज्ञान, मनोविज्ञान, समाजविज्ञान इत्यादि प्राकृतिक विज्ञान मात्र ही परिदृश्यमान कार्य के कारणावधारण का प्रयत्न करते हैं। प्राकृतिक नियमसमूह (Laws of Nature) के आविष्कार तथा तत्व-निरूपण का यत्न करते हैं। राजा तथा प्रजा के सम्बन्ध निर्णय में प्रवृत्त होने पर हमने यह जो गणित-तन्त्र का संवाद

1. In general, whenever two quantities are so related, that any change made in the one produces a corresponding variation in the other, then the later is said to be a function of the former.
—*Differential Calculus* by Williomson, Page 1

ग्रहण किया इसका क्या कारण है ? राजा तथा प्रजा पदद्वय प्रकृति के परिच्छिन्न भाव द्वय के वाचक हैं। प्रकृति गुणत्रयात्मिका है। अतएव प्रकृति का परिच्छिन्न भाव कहने से सत्व-रजः तमः रूप शक्ति त्रय का परिच्छिन्न भाव मानना होगा। गणिततन्त्र, सत्व, रजः, तमः रूप गुणत्रय के परिच्छिन्न नियम के तत्व की व्याख्या करता है। त्रिगुणात्मक प्रकृति रूप समुद्र का विक्षोभ होने से भिन्न-भिन्न परिच्छेद की उत्पत्ति होती है। परमाणु, अणु, अणुसमष्टि इत्यादि सभी प्रकृतिसमुद्र के भिन्न-भिन्न भाव के परिच्छेद हैं। सम्बन्ध निर्णीत न होने के कारण हम किसी जागतिक पदार्थ को नहीं जान पाते। 'यह ऐसा है' अथवा 'ऐसा नहीं है' इसके अवधारण में सम्बन्धनिर्णय व्यतिरेक नहीं होता। गणिततन्त्र यथाशक्ति परिदृश्यमान पदार्थों के सम्बन्धनिर्णय की चेष्टा करता है। इसी कारण हमने राजा तथा प्रजारूप पदार्थद्वय के सम्बन्धनिर्णयार्थ गणिततन्त्र का संवाद ग्रहण किया है। गणिततन्त्र ने किस नियम से दृश्यमान पदार्थसमूह के साथ सम्बन्ध किया है, उसे सुन लिया।

गणित ने रेखा को बिन्दु समष्टि कहा है। बिन्दु कहने से गणित विज्ञान ने किस पदार्थ को लक्ष्य किया है, उसे हम भली-भाँति नहीं समझ पा रहे हैं। हमारा विश्वास है कि बिन्दु तथा अणु अथवा परमाणु समान पदार्थ हैं और अणु तथा परमाणु चैतन्याधिष्ठित सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम त्रिगुण परिच्छेद हैं। गुणत्रय के तारतम्य से अणु-परमाणु में भेद रहना प्रकृति का नियम है।

शास्त्र का उपदेश है जिसका जो कारण है, जिसका जो सूक्ष्म है, उसकी वह आत्मा है। वह उसका केन्द्रस्थानीय है। गणित का भी कथन है कि जो जिससे उत्पन्न होता है, उसे उसका कार्य (Function) कहते हैं। रेखा के परिचालन से तल की उत्पत्ति होती है, यह समझाते समय गणित विज्ञान कहता है कि किसी समतल क्षेत्र की उत्पत्ति में एक उत्पादिका रेखा (Generatix or Generating Line) और एक नियामक रेखा (Directrix) होती है। इन दो रेखाओं का प्रयोजन है। जिस सरल रेखा की गति से एक समतल क्षेत्र की उत्पत्ति होती है, उसे उत्पादिका रेखा (Generatrix) तथा जिस सरल रेखा से अनुमार्ग में वह चालित होती है, जिस सरल रेखा कर्त्तृक से उसकी गति नियमित होती है, उसको नियामिका रेखा (Directrix) कहते हैं।[1] जहाँ नियम है, वहीं नियम्य एवं नियामक भी है। अतएव प्राकृतिक नियम का आविष्कार विज्ञान का उद्देश्य है। वह नियम्य तथा नियामक का अन्वेषण करता है, जो कि अप्राकृतिक नहीं है।

---

1. A plane is a surface generated by a straight line which moves parallel to itself, along a second straight line given in position. The straight line by whose motion the plane is generated, is called the generatix or generating line, and the straight line along which it moves, and which serves to direct its motion is called the directrix.

—*Elements of Descriptive Geometry* by J. Wolley, Page 1

शंकुच्छेदक (Conic Section) तत्र का पाठ पढ़ने से ज्ञात हुआ है कि बिन्दु ही सबका सूक्ष्मतम छेदित शंकु है (The simplest conic section of all has been proved to be a point.)। हम इसीलिए प्रत्येक अणु-परमाणु को छेदित शंकु अथवा वृत्तसूची कहते हैं। केवल यही नहीं, नर-शरीर विज्ञानीगण का Cell नामक पदार्थ भी छेदित शंकु ही है। यदि प्रत्येक मनुष्य को बिन्दु स्थानीयरूपेण ग्रहण किया जाये, तब मनुष्य समाज शरीर की एक छेदित शंकु समष्टिरूपेण कल्पना की जा सकती है। आकर्षण-शक्ति कें प्रभाव से परमाणु जिस प्रकार से अणुसमूह में, अणुसमूह पिण्डाकार में, तथा पिण्डाकार भिन्न-भिन्न संस्थान में परिणत होता है, उसी प्रकार पहले कहा जा चुका है कि प्रत्येक मनुष्य माता, पिता, भ्राता, भार्या, पुत्र, कन्या प्रभृति के साथ स्नेहाकर्षण में आकृष्ट होकर प्रथमतः एक-एक परिवार होता है। तदनन्तर समाज का आकार धारण करता है। तदनन्तर एक राज्य (State) के रूप में सम्मूर्च्छित होता है। इसलिए राज्य एक क्षुद्र परिवार का ही परिपुष्ट तथा परिवर्द्धित शरीर (The development of the family) है। माता-पिता के साथ पुत्र-कन्यादि का जो सम्बन्ध है, गृहस्वामी के साथ अन्यान्य परिवार वर्ग का जो सम्बन्ध है वही सम्बन्ध राजा का राज्य के साथ है।[1] हम यह जानते हैं कि विश्व जगत् की कोई घटना नियम का अतिक्रमण करके संघटित नहीं होती। कोई कार्य बिना कारण निष्पन्न नहीं होता। कार्य मात्र ही का नियत कारण है। धर्मी का धर्मगत परिवर्तन अवश्य होता है, किन्तु विनाश नहीं होता।

प्रत्येक धर्मी, प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु शान्त, उदित तथा अव्यपदेश्य रूप त्रिविध धर्मानुपाती है, विकार अथवा परिणाम मात्र ही निर्दिष्ट नियमाधीन है। सभी क्रिया ताल-ताल से (लय से) निष्पन्न होती है। अग्नि तथा सोम का, परमाणुपुञ्ज अथवा पंचतन्मात्र का अथवा सत्वादिगुण त्रय की ताल से (क्रम से) जिन छन्द के स्पन्दन से जिन पदार्थों का आविर्भाव होता है, वह होता रहता है और होगा। योगवाशिष्ठ में इसी को विकार कहा गया है। विज्ञान विकार नियम की ही स्वरूप व्याख्या का प्रयत्न करता है। किस-किस द्रव्य के किस-किस द्रव्य के साथ किन-किन मात्रा में परस्पर रासायनिक संयोग से संयुक्त होने पर कैसे-कैसे विकार अथवा कार्य की उत्पत्ति होती है, द्रव्यों के रासायनिक संयोग-वियोग का क्या नियम् है, इन सब प्रश्नों की मीमांसा के लिए ही रसायनशास्त्र का आविर्भाव हुआ है। जिस शक्ति के प्रभाव से भिन्न-भिन्न भूतों के परमाणु परस्परतः संयुक्त होकर भिन्न धर्माक्रान्त नूतन पदार्थ का उत्पादन करते हैं, उसका नाम रासायनिक आकर्षण अथवा रासायनिक सम्बन्ध (Chemical Attraction or Chemical Affinity) है। द्रव्यों के रासायनिक संयोग निर्दिष्ट मात्रानुसार होते हैं। जिस किसी मात्रा में, जिस किसी परिमाण में द्रव्यसमूह परस्पर रासायनिक संयोग में संयुक्त नहीं होते।

1. *The Romance of Mathematics* by Hampson, Page 27-28

वैज्ञानिक विद्वान् लैपलेस (Laplace) कहते हैं कि वर्तमान जगत् सम्बन्धित ज्ञान जिनको अर्जित हो गया है, वे उसके भावी परिणाम का विशुद्ध अथवा सम्यग्रूपेण पूर्वेक्षण करते हैं। वर्तमान का पूर्ण ज्ञान ही अनागत का पूर्ण ज्ञान प्रदान करता है। किन्तु हम यदि वर्तमान को अतीत का कार्य तथा भविष्यत् का कारण स्वीकार न करें, तब इस बात की उपपत्ति नहीं होती कि वर्तमान का पूर्ण ज्ञान अनागत का पूर्ण ज्ञान प्रदान करता है और यह बात असम्भव प्रतीयमान होगी।

विद्वान् जेवन्स कहते हैं कि अच्छा, आपातत: मान लिया कि जो वर्तमान है, जो सत् है, वही भावी परिणाम का कारण है, किन्तु प्रश्न उठता है कि सत् क्या है, कैसे उसे निश्चयपूर्वक जाना जायेगा? जो सत् है, हमारा उसके विषय में ज्ञान चिरकाल तक असम्पूर्ण तथा भ्रमाधीन रहेगा। जितने परमाणु सृष्ट हो रहे हैं, जिस रीति से वे आकाश में विन्यस्त हो रहे हैं, उसे जान सकना सम्भव नहीं है। यदि उसे जानना सम्भव हो, तब एक परमाणु कैसे, किस नियम से अन्य एक परमाणु पर क्रिया करता है, इस सम्बन्ध में समीचीन ज्ञानार्जन कदापि सम्भव नहीं होगा।

परमाणु तथा शक्ति एवं विदित प्राकृतिक नियमों द्वारा ही जो विश्व जगत् के सृष्टि-स्थिति लय की व्याख्या करते हैं, जो ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना निष्प्रयोज्य मानते हैं, उनका प्रबोधन करने के लिए पण्डित जेवन्स (Prof. Jevens) यह सब कह रहे हैं। प्रकृति की स्थूलावस्था के दो-एक नियम दर्शन द्वारा उनका सार्वभौम रूप से अवधारण करना उचित नहीं है। हमारा भविष्यदर्शन, भावी परिणाम का पूर्वेक्षण तब भी अभ्रान्त, निश्चयात्मक होगा, जब हम सर्व प्रकार के प्राकृतिक नियम तथा तदनुसार कर्मनिष्पादिका शक्तिसमूह का सम्यक् परिचय पा जायेंगे।[1]

पहले कहा गया है कि मित अथवा प्रसिद्ध लिंग द्वारा किसी अज्ञात अर्थ का जो माननिरूपण है, वह है अनुमान। व्याप्तिज्ञान तथा लिंगपरामर्श, अनुमिति के ये दो कारण हैं। जगत् में पृथक्त: एकत्र अथवा पूर्वापरीभाव से अवस्थित रहे ऐसे अनेक पदार्थ हमें ज्ञानगोचर होते हैं। इस उपलभ्यमान समूह में जिसके साथ जिसका अविनाभाव सम्बन्ध है, उसकी एक भी उपलब्धि होने मात्र से अन्य के साथ जो स्वाभाविक अविनाभाव सम्बन्ध है, मन में उसका स्मरण होने से, उस विषय का मन में जो परीक्षात्मक व्यापार उपस्थित होता है, वह है युक्ति। इस युक्ति के फलस्वरूप उत्पन्न ज्ञान का नाम है यौक्तिक अथवा लैंगिक ज्ञान। महर्षि कणाद लैंगिक ज्ञान के स्वरूप प्रदर्शनार्थ कहते हैं कि यह इसका कार्य, यह इसका कारण, यह इसका

---

1. No single law of nature can warrant us in making an absolute prediction, we must know all the laws of nature and all the existing agents acting according to those laws before we can say what will happen.

— *The Principle of Science* by Jevens, Page 739

संयोगी, यह इसका, यह इसका विरोधी, यह इसका समवायी (This coinherent in that), इस प्रकार सम्बन्धात्मक ज्ञान ही है लैंगिक ज्ञान।[1]

यदि कोई एक पदार्थ पदार्थान्तर के साथ अवस्थान करे, किसी पदार्थ का अभाव होने पर यदि उसके साथ एक अन्य पदार्थ का भी अभाव हो जाये, किसी एक पदार्थ के उत्पन्न होने पर उसके साथ अथवा उसके अव्यवहित पश्चात् अन्य एक पदार्थ की उत्पत्ति होती है, तब इनका परस्परतः स्वाभाविक सम्बन्ध है। एक पदार्थ के साथ अन्य एक पदार्थ का यह स्वाभाविक सम्बन्ध, अविनाभाव सम्बन्ध अथवा व्याप्ति संज्ञा से संज्ञित होगा। पदार्थों में जो स्वाभाविक व्याप्ति है, वही है युक्ति का पूर्व रूप। मननशील मनुष्य के मन में उसका अभ्रान्त संस्कार संकलित होना ही उत्तर रूप है। यह उभयविध रूप एकीभूत होने पर यौक्तिक अथवा लैंगिक ज्ञान प्रकट हो जाता है। अन्वयव्याप्ति, व्यतिरेकव्याप्ति तथा उभयात्मक अथवा अन्वय व्यतिरेक व्याप्ति रूप से जगत् में यह त्रिविध स्वाभाविक व्याप्ति है। जिसके रहने पर जो अवश्य रहे, उनमें अन्वयव्याप्ति है। एक का अभाव होने पर उसके साथ जो अन्य एक का अभाव होता है, वह व्यतिरेकव्याप्ति का कार्य है। जिसके रहने पर जो निश्चय रहे, तथा न रहने पर निश्चय न रहे, वह अन्वय व्यतिरेक-व्याप्ति का लिंग है।

महर्षि गौतम युक्ति के शरीर निर्माणार्थ प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन रूप पंच अवयव की कल्पना करते हैं। जिसे सिद्ध करना होगा, जो साध्य है उसके निर्देश का नाम है प्रतिज्ञा। 'यह यह', 'यह नहीं', 'यह अमुक के समान है अथवा असमान है' मनोगत भाव इस प्रकार से ज्ञानात्मक है। इसलिए शब्द से यही ज्ञान प्रकटित होता है कि 'यह यही' अथवा 'यह नहीं'। 'यह यही', 'यह नहीं' इस प्रकार स्वीकार अथवा अंगीकारात्मक वचन को प्रतिज्ञा कहते हैं। इसलिए कहा जा सकता है कि अन्य को जानने के लिए, परत्र स्वबोधसंक्रमणार्थ प्रयुक्त शब्दसमूह ही प्रतिज्ञा है। मुनि वात्स्यायन कहते हैं कि साधनीय अर्थ का जो परिणाम है वह, अथवा तत् संख्यक शब्दसमूह ही प्रतिज्ञादि पंच अवयव हैं। एक सरल रेखा को किसी दो अंश में विभक्त करने से समस्त रेखा के ऊपर अंकित समचतुर्भुज = दो

1. साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा —*न्याय दर्शन* 1/1/33
साधनीयार्थस्य यावति शब्दसमूहेसिद्धिः परिमाप्यते तस्य पञ्चावयवाः प्रतिज्ञादयः समूहपेक्ष्यावयवा उच्यते—वात्स्यायन भाष्य। सांख्य दर्शन में प्रतिज्ञा आदि पंच अवयव स्वीकृत है। मीमांसक मतानुसार तीन अवयव हैं। वेदान्त परिभाषा ग्रन्थ में भी तीन अवयव कहे गये हैं। प्रतिज्ञा-हेतु-उदाहरण ये अवयवत्रय वेदान्त अनुमोदित हैं। उदाहरणादि अवयवत्रय मीमांसकों का मत है। पाश्चात्य न्यायशास्त्र उदाहरण तथा मुख्य उपादान (Major Premise), उपनयन (Minor Premise), सिद्धान्त (Conclusion) इन तीन अवयव को मानते हैं।

अंश के ऊपर अंकित दो समचतुर्भुज तथा दो अंश के अन्तर्गत द्विगुणित आयत की समष्टि के समान है। यह एक प्रतिज्ञा है। एक साध्य का निर्देश है।

साधनीय धर्म का जो साधन है, वह है साध्य साधन। महर्षि गौतम कहते हैं कि उदाहरण का साधर्म्य समानता प्रयुक्त ज्रो साध्यकर्म साधन है, वह है हेतु। हेतु पुनः द्विविध है—अन्वयी हेतु तथा व्यतिरेकी हेतु। साधर्म्य = अन्वय तथा वैधर्म्य = व्यतिरेक।[1] जिस साध्य धर्म का साधन करना है, उसके साथ किसी सिद्ध धर्म की जो स्वाभाविक व्याप्ति है, पक्ष में (हेतु के अधिकरण प्रदेश में The Subject of a Conclusion : The Minor Term) उस धर्म का अभ्रान्त अस्तित्व प्रदर्शन ही है हेतु प्रदर्शन। व्याप्य (The Sign or Middle Term of Syllogism) पदार्थ रहने से वहाँ व्यापक पदार्थ भी रहता है।[2] इस प्रकार एक स्थल प्रदर्शन का नाम है उपादान संग्रह। व्याप्ति का स्मरण करना उपनय है तथा व्याप्य दिखलाकर उसके साथ जिसका अव्यभिचारी साहचर्य (Invariable Concomitance) है, उसमें सत्ता का अनुभव करना है निगमन।

उक्त ज्यामितिक प्रतिज्ञा की वैजिक (बीजगणितीय) उपपत्ति इस प्रकार है—'क' मानो समस्त रेखा है तथा 'म' एवं 'न' इसके दो अंश हैं, अर्थात्—क = म + न; $\therefore$ क^2 = (म + न)^2 = म^2 + न^2 + 2 मन।

यह समीकरण के अतिरिक्त कुछ नहीं है। न्यायमत से यह व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मताज्ञानजन्य ज्ञान विशेष है।

वात्स्यायन मुनि प्रतिज्ञा के स्वरूप प्रदर्शनार्थ कहते हैं, प्रमाण-सम-वार-आगम अथवा वाक्य ही प्रतिज्ञा है। वात्स्यायन मुनि के इस वाक्य का क्या अभिप्राय है? प्रतिपन्न अथवा सिद्ध पदार्थतत्व आगम द्वारा उपदिष्ट है।

प्रतिज्ञा, प्रतिपाद्य अथवा साध्य अर्थ का निर्देश है। अतः आगम और प्रतिज्ञा एक पदार्थ कैसे हो सकते हैं? न्यायवार्त्तिककार उद्योतकर कहते हैं—आगमधिगत् अर्थ जब पर को समझाता है, तब उसको प्रतिपाद्य अथवा साध्यरूपेण निर्देश किया जाता है, तब वह प्रतिज्ञारूपेण अभिहित है। अतएव आगम को प्रतिज्ञा कहते हैं। इसमें कोई दोष नहीं है।[3] वात्स्यायन मुनि ने इसी कारण आगम को प्रतिज्ञा कहा है। इसे समझने के अनन्तर अब 'प्रमाण समवाय आगम प्रतिज्ञा' इस वाक्य के द्वारा वे 'प्रमाण समवाय' विशेषण से आगम को विशेषित करते हैं, ऐसा क्यों?

---

1. उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः —*न्यायदर्शन* 1/1/34
   तथा वैधर्म्यात् —न्यायदर्शन 1/1/35
2. 'मनुष्यो मर्त्यः' Man is Mortal.
3. तेषु प्रमाणसमवाय आगमः प्रतिज्ञा। —*वात्स्यायन भाष्य*
   आगमाधिगतार्थस्य प्रतिपाद्यत्वादागमः प्रतिज्ञेति न दोषः। य एवार्थ आगमेनाधिगतस्तमेव परस्मा आचष्ट इत्यागमः प्रतिज्ञे। —*न्यायवार्त्तिक*

साक्षात्कृतधर्मा पुरुष प्रत्यक्षादि प्रमाण से जिस तथ्य से अवगत होते हैं, जिस सिद्धान्त से उपनीत होते हैं, उस तथ्य अथवा उस अनुभूत सिद्धान्त से अन्य को अवगत कराने के लिए प्रथमतः प्रतिज्ञा रूप 'यह ऐसा', 'ऐसा नहीं' इस प्रकार से उसका निर्देश करते हैं। अतएव प्रतिज्ञा ही प्रमाण समवाय आगम है, इसमें क्या सन्देह!

'यह ऐसा, यह ऐसा नहीं' किसी धर्मी अथवा वस्तु सम्बन्धित इस प्रकार का स्वीकार अथवा अस्वीकारात्मक प्रवचन सुनकर कारण जानने को उत्सुक श्रोता के मन में 'क्यों यह ऐसा? क्यों यह ऐसा नहीं' ऐसी जिज्ञासा उठना स्वाभाविक है। अतएव प्रतिज्ञा के अनन्तर साध्य निर्देशोपरान्त श्रोता की ऐसी जिज्ञासा को विनिवृत्त करने के लिए उपन्यास आवश्यक है।[1]

सम्बन्ध निर्णय न होने से विज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती। विज्ञान सम्बन्धात्मक है। हम किसी पदार्थ को मात्र उसी के द्वारा नहीं जान सकते। एक पदार्थ के मान से ज्ञात पदार्थान्तर के मान के साथ तुलना करके यह जाना जाता है कि समीकरण ही विज्ञान-साधन है। व्याप्ति ज्ञान के अभाव में समीकरण नहीं हो सकता। प्रत्येक जागतिक वस्तु, प्रत्येक कार्य (Function), पौर्वापर्य सम्बन्ध से सम्बद्ध है। निर्दिष्ट नियम शृंखला द्वारा शृंखलित है। प्रत्येक कार्य यदि निर्दिष्ट नियम शृंखला द्वारा शृंखलित न हो, तब हमारे व्याप्तिज्ञान का उदय नहीं हो सकता। अतएव यथोक्तलक्षण विज्ञान का आविर्भाव ही नहीं हो सकता था।

एक, दो, तीन, चार इत्यादि संख्यासमूह में जो निर्दिष्ट निष्पत्ति, सम्बन्ध अथवा अनुपात है, वह स्थिर है। रसायनतन्त्रोक्त हाइड्रोजन आदि भूतसमूह में जो निर्दिष्ट अनुपात है, वह वैज्ञानिकों को विदित है। हाइड्रोजनादि भूतसमूह की अभिव्यक्ति में मात्रानुसार गुणगत भेद होता है। परिणाम की भिन्नता प्राप्ति में परिणाम क्रम की भिन्नता ही कारण है। क्रम काल का धर्म है। क्रम तथा संख्या समान लक्षणक है। अतः स्पन्दन क्रम भेद ही भूतसमूह के गुणगत भेद का कारण है। स्पन्दन मात्र ही त्रिगुण का कार्य है। अतः गुणत्रय का भागवैषम्य ही सभी प्रकार के गुणगत भेद का हेतु है।

योगवाशिष्ठ में कहते हैं कि नियति (Natural Law) तथा कालशक्ति समानार्थक है। नियति तथा काल शक्ति ही भिन्न-भिन्न लोगों द्वारा ईश्वर क्रिया-ईश्वरेच्छा इत्यादि नाम से अभिहित है। विज्ञान के प्रकृत रूप का दर्शन करने के अनन्तर ज्ञान-पिपासा को चरितार्थ करने के लिए विश्वविज्ञान प्रसूति के चरणों से सम्भूत दर्शनादि शास्त्रसमूह ही एकमात्र उपाय है। सद्गुरु की सहायता से वेदादि

---

1. "साध्यनिर्देशानन्तर कुत इत्याकांक्षाय साधनताव्य....... विभक्तिमल्लिङ्गवचनमेवोचितम् अन्यथानाकांक्षिताभिधाने निग्रहापेतः लोके तथैकांक्षानिवृत्तिरिति प्रतिज्ञानन्तरं हेतुपन्यासः"

— *तत्वचिन्तामणि*, अनुमान खण्ड

शास्त्र पढ़ने से जड़ विज्ञान तथा आध्यात्म विज्ञान के अपूर्व सम्मिलन को देखकर मानव सभी संशयों से रहित होकर परम शान्ति-लाभ में समर्थ हो जाता है। अहो शास्त्र, अहो शास्त्र कहकर मानव को शास्त्र चरण में प्रणत हो जाना चाहिए।

ज्ञान के स्वरूप प्रदर्शन में प्रवृत्त होकर विद्वान् काण्ट कहते हैं कि संश्लेषण ही, विशेष के मध्य सामान्य का आविष्करण ही, ज्ञान का (Knowledge) प्रभव है। विशेष में सामान्य के आविष्कार का प्रयत्न मानव की स्वतः प्रवृत्ति है।[1] विशेष में सामान्य के आविष्कार का प्रयत्न करना मानव का स्वतःसिद्ध धर्म क्यों हो गया? विश्व जगत् में जितने प्रकार के विशेष-विशेष भाव विद्यमान हैं, हो रहे हैं अथवा होंगे, वे सब मूलतः एक ही कारण से उत्पन्न हो रहे हैं, होंगे। अतएव मूल स्थानतः सबके साथ सबका आन्तर्य, स्वाभाविक सम्बन्ध है। सभी कार्य के परम कारण एक ही हैं, दो नहीं हैं। माया के कारण दैशिक तथा कालिक परिच्छेद के कारण मानव द्वारा समझ न पाने पर भी परमकारण-परमपिता यह समझाने की चेष्टा करता है कि तुम सब मेरी ही प्रजा हो, तुमने मूलतः एक ही माता-पिता से जन्म लिया है, तुम सब सहोदर हो। इसी कारण मानव भी विशेष में से सामान्य के आविष्कारार्थ प्रयत्नशील हो जाता है। आत्मीय जन को, अपने को पहचानने का प्रयत्न करता है, विशेष विशेष रूप से उपलभ्यमान पदार्थों में विद्यमान सम्बन्ध का आविष्कार करने में प्रवृत्त हो जाता है।

अतएव विज्ञान विशेष-विशेष भाव से उपलभ्यमान पदार्थसमूह के सम्बन्ध का विनिर्णय करता है, वही इसका धर्म है। एक पदार्थ के साथ और एक पदार्थ का सम्बन्ध निर्णय करने पर दोनों के साधर्म्य-वैधर्म्य का विचार करना होगा। यह विचार प्रत्यक्षादि प्रमाण साध्य है। हम किसी ज्ञात तथ्य द्वारा उपनीत होते हैं। परिदृश्यमान पदार्थसमूह में जिसका सम्बन्ध निर्णीत हो गया है, पुनः-पुनः दर्शन से जिसका व्याप्तिज्ञान अवधारित है, उसके साथ तुलना करके साध्य पदार्थ का साधन करना पड़ता है। महर्षि कणाद कहते हैं, 'यह इसका कार्य', 'यह इसका कारण', 'यह इसका संयोगी', 'यह इसका विरोधी' (This is coinherent in that)। इस प्रकार का सम्बन्ध-ज्ञान ही यौक्तिक अथवा लैंगिक ज्ञान है। महर्षि कणाद के इस वाक्य से सम्बन्ध के स्वरूप सम्बन्धित उपदेश की प्राप्ति हो जाती है। संस्कृत

1. The spontaneity of our thought requires that what is manifold in the pure intution should first be in certain way examined, received and connected,. in order to produce a knowledge of it. This act I call synthesis. In its most general sense, I understood by synthesis the act of arranging different representations together, and of comprehencing what is manifold in first produced by the synthesis of what manifold whether given emperically or a priori.

—*Kant's Critique of Pure Reason* by F. Max Miler, Page 64

दर्शनशास्त्र में, विशेषत: न्यायदर्शन में सम्बन्ध पदार्थ का तत्त्व विस्तारपूर्वक वर्णित है। हमने यहाँ वृत्तिनियामक तथा वृत्यनियामक सम्बन्ध का उल्लेख किया है। जिस सम्बन्ध में सम्बन्धित वस्तुद्वय की एक-दूसरे में वृत्तिता, आधाराधेय अथवा आश्रयाश्रयीभाव प्रतीत होता है, उसे वृत्तिनियामक सम्बन्ध कहते हैं। संयोग, समवाय, स्वरूप, कालिक सम्बन्ध, दैशिक सम्बन्ध इत्यादि वृत्तिनियामक सम्बन्ध हैं। नागेश भट्ट कहते हैं कि स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध ही मूल सम्बन्ध है। संयोग-समवाय-स्वरूप-कालिक सम्बन्ध-दैशिक सम्बन्ध इत्यादि वृत्तिनियामक सम्बन्ध है। नागेश भट्ट कहते हैं कि स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध ही मूल सम्बन्ध है। अवयवावयव-युक्त सम्बन्ध इत्यादि स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध का ही अवान्तर भेद है।

विद्वान् काण्ट समवाय सम्बन्ध (Relation, Inherence and Subsistence), कार्यकारण सम्बन्ध तथा आश्रयाश्रयी सम्बन्ध (Relation of Causality and Dependence) तथा प्रयोज्य तथा प्रयोजक में विद्यमान सम्बन्ध (of community, reciprocity between the active and the passive), इन त्रिविध सम्बन्ध का निर्वाचन करते हैं। जब कार्यमात्र ही परिच्छिन्न है, जब कार्यमात्र ही किसी पूर्वभाव से प्रसूत हुआ है, कार्यमात्र ही जब अन्तः एवं बहिः है तब कोई कार्य अनन्यसम्बन्ध विरहित नहीं हो सकता। यह निःसंदिग्ध है। तब स्थूल का जो सूक्ष्म है, व्याप्य का जो व्यापक है, वह स्थिर है।

साधर्म्य-वैधर्म्य विचार से तत्वज्ञानोदय होता है। पदार्थ मात्र ही धर्म विशिष्ट है। धर्म से हम धर्मी को ही जानते हैं। धर्म अथवा गुणसमूह को धार्मिक गण ने मुख्य तथा गौण रूप भागद्वय में विभक्त किया है। विद्वान् Stewart ने विस्तृति (Extension) तथा संस्थान (Figure) को जड़वस्तु समूह का गणितिक गुण बताया है। हैमिल्टन ने विस्तृति (Extention) तथा मूर्त्ति (Solidity) रूप से मुख्य गुणसमूह को दो प्रधान विभाग में अन्तर्भूत किया है। संस्थान तो परिच्छेद-देश अथवा विस्तृति से भिन्न कुछ भी नहीं है। इसी तरह दृढ़ता-कोमलता-तारल्य, ये मूर्त्ति के ही प्रकार-भेद हैं। किसी मत में विस्तृति तथा गति (Extention and Motion), इन दोनों को ही मुख्य गुण कहा है। किसी के मत से विस्तृति तथा संस्त्यान (Resistance), ये जड़वस्तु जात के द्विविध धर्म हैं। हमारा विश्वास है कि शास्त्रोपदेश ही सर्वदोष विनिर्मुक्त स्थिति है, जड़वस्तु मात्र ही त्रिगुण परिणाम हैं। परिच्छिन्न वस्तुसमूह दिक् अथवा आकाशवर्त्ती है। परिच्छिन्न वस्तु-समूह देशतः-कालतः तथा सर्वावस्था में परिच्छिन्न है। परमाणु एवं गति अथवा कर्म इन पदार्थद्वय के भेद के कारण संस्थान अथवा मूर्ति का भेद हो जाता है। अतएव मूर्त्ति अथवा आकृति का भेद देखकर कर्म अथवा गति का भेद अनुमित हो जाता है। सरल तथा वक्रगति को प्रधानतः इन्हीं भागों में विभक्त किया जा सकता है। सरल रेखा सरलगति की तथा वक्ररेखा वक्रगति की अनुभावक है। वृत्त-अनुवृत्त-

अण्डाकृति-वृत्तखण्ड-वृत्तार्द्ध-आयत-चतुर्भुज-त्रिभुज आदि वक्र रेखागत क्षेत्र हैं। गति कैसे वक्र होती है, इसे गतिविज्ञान ने समझाया है। ज्यामिति का पाठ करने से मूर्ति तथा आकृति का अंकन-विषयक उपदेश प्राप्त होता है। मनुष्य देहस्थ अस्थि-स्नायु-शिरा-धमनी तथा फेफड़ा आदि यन्त्र निर्दिष्ट आकारयुक्त हैं। अस्थि आदि का आकार-विपरिणाम भी ज्यामिति-व्याख्यात क्षेत्र संविधान नियमानुसार ही होता है, इसमें कोई संशय नहीं है।

बिन्दु समष्टि ही रेखा है। रेखा ही सर्व प्रकार ज्यामितिक क्षेत्र का उपादान है। उत्पादिका (Generatrix) तथा नियामिका (Directrix) रूप द्विविध रेखा द्वारा एक समतल क्षेत्र उत्पन्न होता है। कोई वस्तु जब चक्राकार अथवा तदनुरूप पथ पर भ्रमण करती है, तब उसमें केन्द्राभिकर्षणी (Centripetal) तथा केन्द्रापसारिणी (Centrifugal) शक्ति क्रिया करती है। इन दोनों की अन्योन्य क्रिया के बिना चक्राकार गति नहीं हो सकती। शास्त्रोपदेश है कि प्रवृत्ति तथा संस्त्यान इन दो शक्ति के बल के तारतम्य से गति के दिक्-परिणाम तथा प्रयोग-बिन्दु का भेद होता है। शक्ति-प्रयोग क्रम तथा प्रकारादि के अनुसार नाना गतियों की उत्पत्ति होती है। ऋग्वेद जगत् की गति को चक्र अथवा वक्रगति के साथ तूलित करता है। सूर्य-सोममय चक्र में वर्तमान ग्रहादि उक्त चक्र के परिभ्रमण के कारण प्रतिनियत एक बार अवाचीन (अधोमुख) और दूसरी बार पराचीन हो जाते हैं। इन्द्र की अर्थात् विश्वनियामक परमेश्वर की सूर्य तथा सोम (अग्नि सोम) नामक दो शक्तियाँ जगत् को चक्रावर्त्त में आवर्त्तित करती हैं।[1] निर्दिष्ट नियम से संचालित किसी परिवर्तनशील बिन्दु के परिभ्रमण में जिन रेखाओं अथवा वृत्तादि क्षेत्र की परिधि (सर्कमफरेन्स) की उत्पत्ति होती है, उन्हें इस बिन्दु का भ्रमण (Locus) कहते हैं। वृत्त की परिधि किसी निर्दिष्ट बिन्दु से समान दूरी पर अवस्थित बिन्दुसमूह के भ्रमण (Locus) को कहते हैं।

किसी स्थिर बिन्दु तथा सरल रेखा से यदि कोई भ्रमणशील बिन्दु की दूरवर्त्तिता स्थिर अनुपात में रहे, तब उक्त भ्रमणशील बिन्दु के भ्रमण को छेदितशंकु अथवा वृत्तसूची (Conic Section) कहते हैं। छेदितशंकु के स्थिर अथवा नियत अनुपात के (Fixed or Constant Ratio) भेदानुसार अनुवृत्त अथवा अनुवक्र (Parabola), अण्डाकृति (Ellipse) तथा स्थूल अथवा बृहद्वक्र (Hyperbola) रूप त्रिविध आकार हो जाते हैं। कोन गोलाकारवृत्तसूची कोन क्षेत्र द्वारा छेदित होने पर अनुवृत्यादि त्रिविध वक्र के मध्य कोन वक्र का आकार धारण करता है। (कोन Conic Section)।[2]

---

1. इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्तरजसोवहन्ति — *ऋग्वेद संहिता* 2/1/22/164
2. A conic section is the locus of a point which moves so that its distance from a fixed point bears a constant ratio to its distance from a fixed straight line.

जिस नियम से ज्यामितिक वृत्तादि क्षेत्रसमूह का आकृति भेद होता है, मनुष्यादि सप्राण, आकारवान् परमार्थ मात्र का आकृतिभेद भी अनेकतः उसी नियम के अधीन है। यह पहले कहा गया है कोषसमूह जिस प्रकार मानव देह के भ्रमणशील बिन्दु स्थानीय हैं, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य समाजशरीर का भ्रमणशील बिन्दु है। स्थिर बिन्दु तथा स्थिर सरल रेखा के साथ भ्रमणशील बिन्दु की दूरवर्तिता के अनुपात भेद से जिस प्रकार से अनुवृत्तादि त्रिविध क्रम की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार राज्य तथा तन्नियामिका शक्ति-रेखा (Directrix) के साथ राज्य की दूरवर्त्तिता के अनुपात भेदानुसार इसकी त्रिविध आकृति हो जाती है। स्थिर बिन्दु तथा स्थिर रेखा के बिना जिस प्रकार किसी वक्र की उत्पत्ति नहीं होती, उसी तरह राज्य तथा राजनियम रेखा के बिना किसी राज्य का शरीर गठित नहीं होता। जिस देश के राजा राजधर्म का यथानियम पालन करते हैं, उस देश का अभ्युदय अवश्य होगा।[1]

गणिततन्त्र तूलिका द्वारा अंकित राजा तथा प्रजा की प्रतिकृति का स्वरूप संक्षेप में अंकित किया गया। अब भूततन्त्र (Physics) की तूलिका द्वारा अंकित राजा तथा प्रजा की प्रकृति के स्वरूप सम्बन्ध में कुछ कहना है।

भूत तथा भौतिक पदार्थ, भौतिक शक्ति, भौतिक शक्तियों का इतरेतर सम्बन्ध तथा भौतिक शक्तिसातत्य (Conservation and Correlation of Energy), भूततन्त्र का यही अभिधेय है, वही प्रतिपाद्य पदार्थ है। भूततन्त्र इनकी ही स्तुति (स्वरूप प्रदर्शन) करता है।

भूततन्त्रविद् विद्वान् भूततंत्र को सांस्थानिक (Molar) तथा आणविक (Molecular) इन दो भागों में विभक्त करते हैं। भूततन्त्र के जिस भाग में संघात की गति तथा शक्ति-तत्व का विवरण है, उसे सांस्थानिक भूततन्त्र (Molar Physics) नाम से तथा जिस भाग में जड़कणा या अणुओं की गति तथा शक्ति-तत्व का विवरण है, उसे आणविक भूततंत्र के नाम से (Molecular Physics) कहते हैं। सांस्थानिक भूततन्त्र के प्रतिपाद्य विषयों की अवकृष्ट (Abstract) शाखा तथा समवेत (Concrete) शाखा को अन्तर्भूत किया गया है। गति के गणितिक तत्व (Mathematics of Motion), बल का स्थितिशीलत्व तथा साम्यावस्थातत्व (Forces in Equilibrio-Statics) तथा क्रियाप्रवर्त्तक बलतत्त्व, सांस्थानिक भूततन्त्र की अवकृष्टसंज्ञाक शाखा इन सब तत्वों की व्याख्या से युक्त है। यांत्रिक शक्ति तथा स्थूल यन्त्रविज्ञान, वारि स्थिति तथा गतिविज्ञान,

---

The propriety of the conic section rests on this, that if a right circular cone be cut by plane, the section will be one of these aforesaid curves. —*An Introduction to Analytical Plane Geometry*, by W. P. Turnbell, page 99

1. As necessary as the directrix is to the curve, so are the corresponding laws to the state.
– *The Romance of Mathematics*, Page 44

शब्द तथा वायुविज्ञान एवं गणित, ज्योतिष, सांस्थानिक भूततन्त्र की समवेत संज्ञक शाखा, इन सबको विज्ञानात्मक कहा गया है। गणित के साथ भूततन्त्र का जो घनिष्ठ सम्बन्ध है, वह इससे स्पष्टतः प्रतिपन्न है।

आणविक आकर्षण (Molecular Attractions Cohesion), ताप (Heat), आलोक (Light), तड़ित् (Electricity), आणविक भूततन्त्र में इन सब तत्त्वों का निरूपण किया गया है।

भूततन्त्र का प्रतिपाद्य विषय है भूत भौतिक पदार्थ, भौतिक शक्ति एवं गति (Motion)। भूततन्त्र इनका ही निरूपण करता है। यद्यपि यही भूततन्त्र का प्रतिपाद्य विषय है, किन्तु हमारी धारणा है कि इन सब विषयों का समीचीन परिचय अभी भी भूततन्त्र को नहीं मिल सका है। भूतादि पदार्थसमूह के लक्षणादि के सम्बन्ध में अभी भी कोई स्थिर, सर्वसम्मत सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं हो सका है। पण्डित हर्बर्ट स्पेन्सर के मत से जो प्रतिघातधर्मक है, जो विस्तृति विशिष्ट है, वह है Matter. मैटर की अनन्त विभाज्यता को लेकर इन्होंने विचार किया है तथा अन्त में सिद्धान्त स्थिर किया कि इस प्रश्न की मीमांसा नहीं हो सकी है कि मैटर को अनन्त विभाग में विभक्त किया जा सकता है, अथवा नहीं। मैटर के साथ शक्ति का सम्बन्ध निर्णय करते समय विद्वान् स्पेन्सर कहते हैं कि मैटर का अस्तित्व हम केवल शक्ति की अभिव्यक्ति द्वारा ही अनुभव करते हैं। जो प्रतिघात करता है, बाधा देता है, वही हमारे लिए मैटर है। यदि हम इससे उसके प्रतिघात धर्म को पृथक् कर सकें, तब वहाँ शून्य अवकाश के अतिरिक्त कुछ भी नहीं रह सकता। तब क्या मैटर केवल सन्स्त्यान शक्ति ही है? पण्डित स्पेन्सर कहते हैं कि वह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मैटर के बिना शुद्ध संस्त्यान शक्ति की धारणा ही कैसे हो सकेगी?

विद्वान् बेन (Bain) कहते हैं कि मैटर, फोर्स तथा इनर्शिया (Inertia) वास्तव में एक पदार्थ की ही भिन्न-भिन्न आख्या है। मूलतः एक पदार्थ ही अवस्था-भेद से मैटर आदि भिन्न-भिन्न रूप से उपलब्ध हो रहा है। संस्त्यान (Resistence), प्रवृत्तिशक्ति (Force) तथा जड़त्व (Inertia), इन शब्द-त्रय द्वारा जो पदार्थ लक्षित होता है, वही मैटर है। संस्त्यानादि ही मैटर का इतरव्यावर्त्तक लक्षण है।[1]

विद्वान् डेकार्ट के मत से विस्तृति विशिष्ट पदार्थ ही मैटर है। गतिशीलत्व मैटर का निजधर्म नहीं है। इन्होंने एकजातीय परमाणु को स्वीकार किया है। इनके मत से

---

1. Matter, Force, Inertia, these are three names for substantially the same fact : At the bottom there is but free experience although varied in the circumstances namely the experience of putting forth muscular energy in resisting movement... Accordingly the only fact occuring in all matter is the fact expressed by resistence, force or inertia; all which are names for a single phenomenon. — *Logic*, Part II by Bain, Page 225

विश्व का कोई भी स्थान शून्य नहीं है।[1] विद्वान् काण्ट कहते हैं कि जो निर्दिष्ट दिक् अथवा आकाशवृत्तिक है, जो भेद तथा संसर्ग वृत्तिशक्तियुक्त है, वह है मैटर (Matter)।

शुद्ध संस्त्यान धर्म को कणावाद तथा शुद्ध प्रवृत्तिशक्ति को प्रवृत्तिशक्तिवाद (Carpuscular Theory = कणावाद। Dynamical Theory = प्रवृत्ति शक्तिवाद) रूप से मैटर के सम्बन्ध में द्विविधवाद हैं। कणावाद के अनुसार परमाणु-समूह शक्ति निरपेक्ष स्वतन्त्र सद्वस्तु है। (It is a real thing independent of force)। शक्तिवाद में ये शक्ति अथवा बलकेन्द्र हैं। शक्ति अथवा बलगोलक हैं (Material Particles are mere centres or spheres)। फैराडे, वसकोविच्, य्यामपियर प्रभृति विद्वान् शक्तिवादी हैं। लॉर्ड कालविन, हेल्महोल्ज प्रभृति आधुनिक वैज्ञानिक कुलचूड़ामणिगण के मत से परमाणुसमूह सर्वगत तरल पदार्थ का आवर्त्त है। लॉर्ड कालविन कहते हैं कि परमाणु अथवा अणुसमूह अमानवीय अथवा अमेयरूपेण सूक्ष्म पदार्थ नहीं है।[2]

विद्वान् ब्हैलो कहते हैं कि जड़वादी-शक्तिवादी दोनों ही भ्रान्त हैं। अपने-अपने पक्ष समर्थनार्थ दोनों पक्ष वालों द्वारा प्रदर्शित हेतु में हेत्वाभास (Fallacy) है। शक्ति (Force) के बिना भौतिक पदार्थ की तथा भौतिक पदार्थ के बिना शक्ति के अस्तित्व की उपलब्धि नहीं होती। जड़वादीगण कहते हैं कि जड़त्व (Inertia) भौतिक पदार्थ का अनन्याश्रित वास्तविक तत्व है। शक्तिवादी कहते हैं कि शक्ति ही एकमात्र पदार्थ है। दोनों ही पदार्थ धर्मावकर्षण क्रिया के फल को प्रकृत तत्व बतलाते हुए भ्रम में पतित हैं। हम पुनः कहना चाहते हैं कि त्रिगुण तत्त्व का आश्रय ग्रहण किये बिना विवाद की मीमांसा नहीं होगी।

अध्यापक Landoi भूत (Matter) के पिण्डीभूत मूर्त्त (Ponderable) तथा अपिण्डीभूत-अमूर्त्त (Imponderable) इन द्विविध अवस्था का स्वरूप-वर्णन करते हैं। काठिन्य, तारल्य, तथा वायवीय तत्त्व इन त्रिविध धर्म को मूर्त्तभूत में विशेष लक्ष्य बताते हैं। इन्होंने ईथर को अपिण्डीभूत अथवा अमूर्त्तभूत बताया है। यह विश्वजगत् में सर्वत्र व्याप्त है। अन्ततः सुदूरवर्ती दृश्यमान नक्षत्रमण्डलपर्यन्त इसकी व्याप्ति है। यह अमूर्त्तभूत होने पर भी (Notwithstanding its

---

1. Extension, then and not impenetrability, as is often supposed, is the essential attribute, to us the essence of matter.

   It is the theory that matter is homogeneous of quality are simply produced by a different mechanical composition and a difference of motion in its parts. —*Descarts* by J.P. Mahuffy, Page 157
2. Four lines of argument founded on observation have led to the conclusion that atoms or molecules are not inconceivably, not immeasurably small. —*Popular Lectures and Address* by Sir W. Thomson, Vol. I, Page 154

imponderablity) निर्दिष्ट यान्त्रिक धर्मयुक्त पदार्थ है। अमूर्त्तभूत (Ether) तथा मूर्त्तभूत परस्परतः सूक्ष्मतः विच्छिन्न नहीं हैं। मूर्त्तभूतसमूह का अणु मध्यवर्ती अखिल अवकाश इससे व्याप्त है। अध्यापक Landoi कणा, अणु-परमाणु रूप मूर्त्तभूतसमूह की सूक्ष्म-सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतम अवस्था का विवरण देते हैं। ये परमाणु का भी अपिण्डीभूत तथा पिण्डीभूत रूप श्रेणीद्वय में भाग करते हैं। ईथरीय परमाणु अपिण्डीभूत अमूर्त्त परमाणु हैं। मूर्त्तपरमाणुसमूह मुहूर्त्त में ईथरीय परमाणु के साथ निर्दिष्ट सम्बन्धानुसार सन्निवेशित होते हैं। मूर्त्तपरमाणुसमूह परस्परतः एक-दूसरे का तथा अपिण्डीभूत ईथरीय परमाणुओं का आकर्षण करते हैं। ईथरीय परमाणु परस्पर-परस्पर का विप्रकर्षण करते हैं। इसी कारण से ईथरीय परमाणु पुंज प्रत्येक मूर्त्त अथवा पिण्डीभूत परमाणु का वेष्ठन किये रहते हैं। सम्मूर्च्छितावयव संघात समूह मूर्त्तपरमाणु पुंज के अन्योन्य आकर्षण से परस्पर मिलने का प्रयत्न भी करते हैं, किन्तु उक्त संघात समूह की इस प्रकार परस्परतः मिलने की चेष्टा परिवेष्ठक ईथरीय परमाणु द्वारा नियमित हो जाती है। ईथरीय परमाणु उनको जब तक परस्परतः समीप आने का अवकाश देते हैं, ये वहीं तक आ पाते हैं। अणु (Molecules) समूह के आपेक्षिक सन्निवेशानुसार भूत संघात का कठिन, तारल्य, वायवीयत्व अवस्था परिणाम होता है।[1]

अध्यापक Landoi जो कहते हैं, वह सर्वसम्मत नहीं है। वैज्ञानिकों में बहुसंख्यक व्यक्ति ने ताप-तड़ित तथा आलोक-तत्व की व्याख्या करने में ईथर को ही इनका कारण अवधारित किया है। मूर्त्तवस्तुमात्र ही (All ponderable bodies) ईथर नामक पदार्थ से व्याप्त हैं। अनेक के मत से प्रत्येक अणु ईथरीय परिवेष्ठ द्वारा वेष्ठित हैं। इनकी क्रिया ही तापादि का प्रभव है। अध्यापक नार्टन कहते हैं, प्रत्येक अणु भिन्न जातीय दो परिवेष्ठ (ईथरीय परिवेष्ठ) से वेष्ठित एक मूर्त्तभूत के परमाणु द्वारा गठित हैं। अध्यापक नार्टन के अनुमान से सभी भौतिक कार्य भूत के ऊपर शक्ति की क्रिया से निष्पन्न होता है। प्रकृति में जितने प्रकार की शक्ति क्रिया करती है, वह सब आकर्षण-विकर्षणरूपी दो मूल शक्ति का रूपान्तरण है। समस्त भौतिक वस्तु पृथक्-पृथक् अविभाज्यांश परमाणु संज्ञक पदार्थात्मक हैं। परमाणु समूह का परिमण्डल गोलाकृति है। मैटर परस्परतः तत्वतः विभिन्न (Essentially Different) त्रिविधावस्था में विद्यमान हैं। प्रथम है—स्थूलावस्था—इन्द्रियग्राह्य अवस्था। द्वितीय है—सूक्ष्मतरलावस्था अथवा ईथर। यह साधारण भूत के साथ संलग्न होकर विद्यमान है। इसी के मध्यवर्तन के कारण ताड़ित् की अभिव्यक्ति होती है। यह ताड़ित ईथर साधारण स्थूल भौतिक पदार्थ से आकृष्ट होता है। परन्तु इसके प्रत्येक

1. The ponderable atoms mutually attract each other, and similarly they attract the imponderable Ether-atoms; but the Ether-atoms repel each other.

—*Human Physiology* by L. Landoi, Vol. I, Introduction xxv

परमाणु परस्पर एक-दूसरे का विप्रकर्षण करते हैं। तृतीय है—तैजस अथवा सार्वत्रिक ईथर (The Lumini Ferous Ether अथवा The Universal Ether)।[1]

ईथर पदार्थ के सम्बन्ध में भी मतभेद है। ईथर किसी के मत से सम्पूर्णतः आकर्षणात्मक (Wholly Attractive) है। कोई कहते हैं कि ईथर को सम्पूर्णतः आकर्षणात्मक कहें। इसके स्थितिस्थापक धर्म की कैसे उपपत्ति होगी? विप्रकर्षण शक्ति विरहित पदार्थ का क्या स्थितिस्थापक होना सम्भव है? अध्यापक वेमा कहते हैं ईथर जब गति संचरण अथवा सन्तानधर्मक है, तब यह स्थितिस्थापकत्व धर्म विशिष्ट है, यह स्वीकार करना होगा। ईथर के स्थिति-स्थापकत्व को बेमा ऋणस्थितिस्थापकत्व (Negative Elasticity) कहते हैं।

ईथर परिचित भूत (Matter) पदार्थ से भिन्न जातीय स्वतन्त्र पदार्थ है अथवा नहीं। मैटर को जिस लक्षण द्वारा लक्ष्य किया जाता है, क्या ईथर उस लक्षण से युक्त पदार्थ है? पण्डित ग्रोव तैजस ईथर के स्थान पर साधारण मूर्त्तभौतिक पदार्थ को सन्निवेशित करने की इच्छा प्रकट करते हैं। जो गुरुत्व धर्मयुक्त है, जो मध्याकर्षण क्रियासम्पद है, वह Matter है। मैटर का यही स्वीकृत लक्षण है। यथोक्त ईथर नामक पदार्थ यदि गुरुत्वहीन है तब यदि मध्याकर्षण क्रिया सम्पन्न हो, ऐसी स्थिति में मैटर को ऐसे लक्षणानुसार मैटर (Matter)पदार्थ नहीं कहा जा सकता। अध्यापक बेमा कहते हैं कि ईथर को जो अमूर्त्तभूत कहा गया है, उसका कारण यह है कि इनके गुरुत्व का परिमापन हमारी शक्ति से बाहर है। ईथर वास्तव में मध्याकर्षण क्रियासम्पद है। आकर्षण-शक्ति तथा संघात की अन्योन्य क्रिया के फल से भिन्न गुरुत्व और कुछ नहीं है। अर्थात् इस अन्योन्य क्रिया का फल है। यदि ईथर संघात गुरुत्वहीन होता तब वह आकर्षण-शक्ति का क्रियास्पद नहीं होता। यह केवल पृथ्वी का क्रियाफल नहीं है। पृथ्वी का गुरुत्व भी सौरक्रियापेक्ष है। उपग्रह (Satellites) का गुरुत्व भी ग्रहों का क्रियापेक्ष है।[2] अध्यापक बेमा कहते हैं ईथरीय सिद्धान्त (Etherial Theory) किसी अभिनव विशेषभूत की कल्पना नहीं करता। भौतिक वस्तुसमूह का विश्लेषण करने से अन्त में

---

1. *Vide Silliman's American Journal or Bayma's Molecular Mechanics*, Page. 186-187.
2. We shall remark first, that the Aetherial theory assumes by no means the existence of a specific matter without weight. Ether is called an imponderable, not to express that it is without weight, but to state the fact that we cannot weight it. Aether, like all other material things is essentially subject to gravitation... And, since weight is nothing but the resultant of attractions applied to a mass, a mass of Aether cannot be under attraction without having weight. Yet weight in general is not necessarily the resultant of terrestrial actions alone. The earth itself has weight as related to the sun and the satellites have weight as related to their planets.—*The Elements of Molecular Mechanism*, Page 174

आकर्षणात्मक तथा विकर्षणात्मक द्विविध मूलभूत में वह पर्यवसित हो जाता है। ऐसे भौतिक पदार्थ का अस्तित्व सम्भव ही नहीं है जो आकर्षणात्मक तथा विप्रकर्षणात्मक का विजातीय हो। तथापि ईथर को साधारणत: परिज्ञात द्रव्यसमूह से विशिष्ट द्रव्य कहना होगा। यद्यपि हाइड्रोजन तथा ऑक्सीजन एक परसामान्य भौतिक उपादानसमूह द्वारा सम्मूर्च्छित हैं, तथापि अपरसामान्यत: ये भिन्न द्रव्य हैं। क्योंकि अवयव सन्निवेश तारतम्य के कारण ये परस्परत: विशिष्ट धर्माक्रान्त हैं। ईथर नामक पदार्थ के इस प्रकार से परसामान्यत: विशेष भौतिक पदार्थ न होने पर भी उसे अवयव सन्निवेश भेद के कारण साधारणत: परिज्ञात भौतिक वस्तु से विशिष्ट भौतिक वस्तुरूपेण विवेचित करते हैं।[1]

भूत (Matter) के सम्बन्ध में वैज्ञानिक, दार्शनिक गण जो-जो अनुमान करते हैं, उसका किंचित् आभास प्राप्त हो गया। अब शक्ति पदार्थ के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों के मत को यथा प्रयोजन सुनना है। शक्ति पदार्थ का किंचित् परिचय पहले दिया गया है। द्रव्यसमूह जिसके द्वारा कर्म-निष्पादन करते हैं, उसका नाम है एनर्जी। एनर्जी काईनेटिक (Kinetic) तथा पोटेंशियल (Potential) भेद से द्विविध है। द्रव्य में जो एनर्जी नोदनादिजनित कर्म से उदित होती है, कर्मकारित संस्कार का क्षय होने तक विरुद्ध अथवा प्रतिबन्धक शक्ति की बाधा के अतिक्रमण रूप क्रिया के भान में जिसका मान अवधारित होता है, उसे काईनेटिक एनर्जी कहते हैं। अध:पतनशील द्रव्य (A Falling Body), दोलायमान परिदोलक (Swinging Pendulum), वृहन्नलिका यन्त्रयुक्त चलनात्मक दोलक (Cannon Ball in Motion), इत्यादि इसके (Kinetic Energy विशिष्ट द्रव्य के) दृष्टान्त हैं। द्रव्य के अवस्थानगत भेद के कारण उसे जो कर्म करना होता है, पोटेंशियल एनर्जी ही उसका कारण है। आनमित, स्थितिस्थापक धर्मयुक्त स्प्रिग, वेत्र प्रभृति भूमि से उन्नमित द्रव्यसमूह, पोटेंशियल एनर्जी युक्त द्रव्य का दृष्टान्त-स्थल है। विज्ञान ने काईनेटिक तथा पोटेंशियल रूप शक्ति के सम्बन्ध में जो परिचय प्रदान

---

1. We have shown in another place that the analysis of bodies must ultimately lead to simple elements. Some attractive and others repulsive. A matter specifically different from attractive and repulsive elements would be a matter destitute of that which essentially constitutes what we call matter, it would be a sheer impossibility... thus, hydrogen and nitrogen, although made up of elements of common matter, are substances of a different species as every one must allow, in as much as they have a different specific constitution from which their different specific properties result. If then, luminiferous Eather possesses properties which are incompatible with the constitution of common ponderable bodies, we are compelled to say that Eather is endowed with a peculier constitution. —Ibid, Page 174-175

किया है, उससे विदित होता है कि ये कदाचित् क्रियाशील तथा स्थितिशील शक्ति के बोधक रूप में प्रयुक्त होते हैं।

ताप, तड़ित्, आलोक प्रभृति भौतिक शक्ति समूह परीक्षा द्वारा निर्णीत होते हैं, परस्पर परस्पर के धर्म का आश्रय करते हैं। ताप, तड़ित के आकार आकारित होते हैं। तड़ित् तापाकार में परिणत होती है। आलोक ताप के ताप आलोक के, रसायन शक्ति ताप तड़ित आलोक के भाव से भावित होती है। इसी कारण वैज्ञानिकगण सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं कि ताप-तड़ित प्रभृति शक्तियाँ अन्योन्याश्रयवृत्तिक, परस्पर सम्बद्ध हैं (Co-relative or have a reciprocal dependence)।

किसी कायव्यूह में बहिर्देश से यदि कोई शक्ति क्रिया न करे, यदि बाहर का कोई संस्कार उसमें पतित न हो, तब वह सब शक्ति इस कायव्यूह में कार्य करती है, उसकी समष्टि सदा एकरूप रहती है। शक्ति के विभिन्न रूप परस्परतः परस्पर के आकार में आकारित होते हैं। प्रवृत्ति शक्ति की उदितावस्था का शान्तावस्था में तथा शान्तावस्था का उदितावस्था में परिवर्तन होता है तथा इस परिवर्तन के होने से भी शक्ति का किसी अंश में कोई अपाय नहीं होता। शक्ति का एक भाव में निर्दिष्ट परिणाम होने से उसके ऊपर एक भाव में निर्दिष्ट परिणाम प्राप्त शक्ति का रूप-परिवर्तन उसी भाव में होता है।

आधुनिक वैज्ञानिक पण्डित वर्ग ने गत 50 वर्षों के विज्ञान जगत् की जो उन्नति हुई है, कितने अनाविष्कृत तथ्यों का आविष्कार हुआ है, इसके अवधारण में प्रवृत्त होकर शक्तिसातत्य तथा शक्तिसमूह के इतरेतर सम्बन्ध तत्व को प्रधानतः लक्ष्य किया है। शक्तिसातत्य तथा शक्तिसमूह के इतरेतर सम्बन्ध (Conservation and Correlation of Energy) रूप नियमद्वय को ही आधुनिक वैज्ञानिकगण परमाणुसमूह के सार्वजनिक सम्बन्ध तत्व के रूप में अवधारित करते हैं।

विज्ञान का उपदेश है कि उदित अथवा क्रियमाण धर्म की, क्रियाशील अथवा प्रवृत्ति शक्ति की (Energy of Motion), स्थितिशील शक्तिरूप (As Energy or Position) से तन्वावस्था में अवस्थान योग्यता है। इसे यदि स्वीकार न किया जाये, तब प्राकृतिक परिणाम तथा उसके नानात्व की उपपत्ति नहीं होती। अणुसम्मूर्च्छन का, अणुसमूह के धनीभावधारण का अपेक्षिक नित्यत्व, रासायनिक क्रिया-प्रतिक्रिया, स्फटिक विपरिणाम (Crystallization), उद्भिद् तथा जैव शरीरोत्पत्ति, ये सभी उदित अथवा क्रियमाण धर्म की स्थितिशील शक्तिरूपेण तन्वावस्था में अवस्थान योग्यतापेक्ष हैं।[1] आधुनिक वैज्ञानिकों का यह उपदेश क्या

1. In truth, modern science teaches that diversity and change in the phenomena of nature are possible only on condition that energy of motion is capable of being stored as energy of position. The relatively permanent concretion of material forms, chemical

हमारे अदृष्टवाद का समर्थक तो नहीं है ? यह क्या, इस कथन की व्याख्या तो नहीं है कि कर्मवैचित्र्य ही सृष्टिवैचित्र्य का हेतु है ? यह क्या इस शास्त्रोपदेश की प्रतिध्वनि तो नहीं है कि जो अभिव्यक्त होता है, वह कारणात्मा में अनभिव्यक्त भाव से अवस्थित शक्ति है ? असत् कभी सत् अथवा सत् कभी असत् नहीं होता। शक्ति-समूह के इतरेतर सम्बन्ध का पूर्ण रूप ऋषिगण दिखला गये हैं। वैज्ञानिक विद्वान् ड्रेपर तथा स्टैलो के अनुसार यह कहना है कि शक्तिसातत्य नवीन आविष्कृत तत्व नहीं है।[1] सनातन वेदरत्नाकर के इस तत्वरत्न का समुज्वल रूप हमने देखा है। सृष्टि-प्रलय परम्परा अथवा कर्म का अनादित्व इसका ही व्यापक विशुद्ध रूप है।

ताप-तड़ित् आलोक, शब्द इत्यादि पदार्थ आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि में गति (Motion) रूप से अनुभूत हुआ है। लॉर्ड कालविन स्थितिस्थापक धर्म को ही गतिविशेष कहते हैं।[2] गति को हम शास्त्रोपदेशानुसार कर्मपदार्थ कहते हैं। निरुक्त में शक्ति शब्द कर्म के पर्यायरूप में धृत है। वेद में कर्मार्थ (कर्म जिसका अर्थ है) रूपेण शक्ति शब्द का बहुशः प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। शक्ति के सम्बन्ध में और कथा सुनने का आपातत: अब कोई प्रयोजन प्रतीत नहीं होता है। पहले कहा है कि बिना यन्त्र के शक्ति कार्य नहीं कर सकती। यन्त्रविज्ञान भी भूततंत्र के ही अन्तर्गत है। यह भी पहले विवेचित किया गया है। अब यन्त्र के सम्बन्ध में कुछ और भी कहना है।

यन्त्रविज्ञान के अध्ययन से विदित होता है कि (क) दण्ड यन्त्र (Lever), (ख) क्रमनिम्नधरातल (The Inclined Plane), (ग) उद्घाटन अथवा कपि यन्त्र (The Pully), (घ) अक्षचक्र यन्त्र (The Wheel & Axle), (ङ) व्यावर्तनशील अथवा कर्षणीयन्त्र (Screw), (च) कीलक अथवा शंकुयन्त्र (Wedge), सामान्यत: इन छः य़न्त्रों से कर्मतत्व की साधारण अवस्था निर्णीत

---

organisms—all depend upon the locking up of kinetic action in the form of latent energy.

— *Concepts of Modern Physics* by J.B. Stall, Page 68

विद्वान ड्रेपर कहते हैं—The Doctrine of Conservation and correlation of force yields as its logical issue the time worn oriented emanation theory; the Doctrine of Evolution and development strike at that of successive creative acts.... Now, the Asiatic theory of emanation and absorption is seen to be in harmony with this grand Idea.

— *The Conflict between Religion & Science* by Draper, Page 358.

1. विद्वान् स्टैलो कहते हैं—In general sense, this doctrine is coeval with the dawn of human intelligence. It is nothing more than an application of the simple principle that nothing can come from or to nothing. — *Concepts of Modern Physics by Stayllo*, Page 68
2. Belief that no other theory of matter is possible is the only ground for anticipating that there is in store for the world another beautiful book to be called Elasticity, a mode of motion.

—*Popular Lectures & Addresses* by Sir W. Thomson, Vol. I, Page 153

होती है। ये विशुद्ध अथवा साधारण यन्त्र हैं। विचार करने से ज्ञात होगा कि दण्डयन्त्र तथा क्रमनिम्नधरातल यन्त्र के संयोग से एक अन्य यन्त्र उत्पन्न होता है। इसलिए विशुद्ध यन्त्र द्विविध है।

दण्डयन्त्र लौह, काष्ठ अथवा अन्य किसी भार सहने लायक कठिन (ठोस) पदार्थ से निर्मित होता है। यदि कोई कठिन (सरल अथवा वक्र) दण्ड किसी दृढ़बद्ध प्रदेश के चारो ओर घूर्णित रहे, तब उसे दण्डयन्त्र कहते हैं। जिस दृढ़बन्ध प्रदेश के चतुर्दिक् दण्डयन्त्र घूर्णित होता है, उसे उसका आलम्ब अथवा भाराश्रयी (Fulcrum) कहा गया है।

आलम्बमध्यक, भारमध्यक तथा बलमध्यक भेद से दण्डयन्त्र त्रिविध हैं। आलम्ब, बल तथा भाव के विनिवेश क्रम में आलम्बमध्यक, भारमध्यक तथा बल-मध्यक के अवस्थिति भेद से दण्डयन्त्र (Lever) त्रिविध हो जाता है। जो दण्ड-यन्त्र के आलम्ब, बल तथा भार के कार्य स्थान का (प्रवृत्ति तथा सन्स्त्यान के रजः तमः का Moving Force & Resistance) मध्यवर्ती है, वह है आलम्बमध्यक दण्डयन्त्र। जो दण्डयन्त्र के भार, सन्स्त्यान (Resistance), आलम्ब तथा बल के कार्यस्थान के मध्य में है, आलम्ब तथा बल के, प्रवृत्ति (Power) के मध्य में क्रिया करता है, वह है भारमध्यक दण्डयन्त्र। जो दण्डयन्त्र के बल का, प्रवृत्ति का, कार्य-स्थान है, आलम्ब तथा भाव के, सन्स्त्यान के कार्य-स्थान के मध्य स्थित है, जो दण्डयन्त्र में प्रवृत्ति शक्ति आलम्ब अथवा भाराश्रयी पदार्थ के मध्य क्रिया करे, वह है बलमध्यक दण्डयन्त्र।

त्रिविध दण्डयन्त्र की पर्यालोचना से विदित होता है कि मध्य में विशुद्ध सत्व तथा दोनों ओर रजः एवं तमः है। यह है व्यावहारिक आत्मा का स्वरूप। अथवा जगत् कर्ममूर्ति है तथा जगत् त्रिगुण परिणाम है। कतिपय अक्षरात्मक इस व्यापक उपदेशालोक में जगत् का परिच्छिन्न रूप अभिव्यक्त हो जाता है। यह उपदेशालोक भगवान् यास्क, भगवान् पतंजलि तथा कपिलदेव द्वारा प्रदत्त है। जब जगत् गुणत्रय का परिणाम है, जब सत्वादि गुणत्रय अन्योन्याभिभव वृत्तिक हैं, अन्योन्याश्रयवृत्तिक, अन्योन्यजननवृत्तिक, तथा अन्योन्यमिथुनवृत्तिक हैं, जब क्रिया की प्रतिक्रिया है, तब क्रिया तथा कर्मभेद से त्रिविध यन्त्र होना स्वाभाविक है। विश्व विज्ञान प्रसूति श्रुति में इसी कारण पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युस्थान को त्रिविध यन्त्र तथा अग्नि-वायु-सूर्य को इस यन्त्रत्रय के त्रिविध अधिष्ठातृ देवता अथवा शक्तिरूप कहा गया है। शक्ति स्वरूपतः एक होने पर भी यन्त्रभेद से विभिन्नतः क्रिया सम्पादित करती है। केवल दण्डयन्त्र ही क्यों, यन्त्रमात्र त्रिविध है। प्रत्येक जागतिक पदार्थ एक-एक यन्त्र है। अस्थि ही स्थूलदेह का दण्डयन्त्र (Lever) है। कृकाटिकास्थि के ऊपर अवस्थित शिरः अथवा मस्तिष्क की संचालन-क्रिया में इस (कृकाटिकास्थि) की प्रवृत्ति भी सन्स्त्यान मध्यगत रहती है।

जिसके द्वारा यन्त्र परिचालित होता है, वह बल है। जिसके द्वारा कार्य सम्पादन होता है, जो बाधा अतिक्रम करता है, उसका नाम है भार (Weight)। आकर्षण ही भार तथा गुरुत्व का कारण है। पृथ्वी के मध्याकर्षण के द्वारा जड़ द्रव्य के अणुसमूह उसके केन्द्र अथवा मध्याभिमुख आकृष्ट हो जाते हैं। जड़ द्रव्यों के परमाणुओं के मध्य में जो व्यवधान होता है, उसके साथ तुलना में पृथ्वी का केन्द्र इतनी दूर अवस्थित है कि परमाणु समूह जब बल द्वारा आकृष्ट होते हैं, तब उनके समान्तराल की विवेचना की जा सकती है।[1]

कोई वस्तु जब पृथ्वी के बल से आकृष्ट होती है, वही उसके भार का विज्ञापक है। द्रव्यों का भार उसके परमाणु पुंज के भार की समष्टि के बराबर होता है। इसलिए कहना होगा कि किसी द्रव्य के अणुसमूह जिस समुदाय के समान्तर बल के वशवर्त्ती होते हैं, उसका भार उनके संघात बल के समान होता है और भी, अणुसमूह का भार समवेत होकर जिस बिन्दु में कार्यकारी होता है, तदुत्पन्न द्रव्य का भार भी उसी बिन्दु में कार्यकारी होगा। प्रत्येक द्रव्य परस्परतः दृढ़भाव से संहत प्रत्येक जड़बिन्दु समष्टि का एक भाव-केन्द्र (Centre of the Gravity) है। जिस काष्ठ अथवा लौहमय दण्ड का सभी स्थान समान स्थूल है, उसका मध्यभाग मात्र धृत होने से समुदाय भाग स्थिर होकर रहता है। सभी वस्तु ही का एक-एक सूक्ष्म स्थान है। उस स्थान का आलम्बन प्राप्त होने पर वस्तुजात का समुदाय भाग धृत तथा स्थिर हो जाता है। उस सूक्ष्म बिन्दुमात्र स्थान को भाव-केन्द्र कहा गया है। शून्य गर्भ (खाली) सभी द्रव्यों का भाव-केन्द्र है। वे इसके मध्यवर्ती शून्यस्थान में अवस्थित रहते हैं। यदि किसी वस्तु केन्द्र के भार केन्द्र से निर्गत लम्ब रेखा उसके नीचे न पड़कर बाहर पड़े, तब वह वस्तु स्थिर न रहकर भूमिपतित हो जाती है। भाव-केन्द्र का अवलम्बन लेकर द्रव्यमात्र स्थिर रहता है। वह जब आश्रयशून्य हो जाता है, तब सभी द्रव्य विचलित हो जाते हैं।

साम्यभाव का (Equlibrium) विज्ञान स्थायी (Stable) अस्थायी (Unstable) तथा उदासीन (Neutral) इन त्रिविध रूप का वर्णन करता है। जिस भाव के अवस्थित होने पर किसी द्रव्य का साम्यभाव सहसा विनष्ट नहीं होता, ईषत् संचालित होने पर भी पुनः पूर्वावस्था को प्राप्त हो जाता है उसे स्थायी साम्यभाव कहते हैं। जिस भाव के अवस्थित होने पर इषत् संचालनवशात् साम्यभाव का नाश हो जाता है, उसे अस्थायी साम्यभाव कहा

---

1. Every particle of matter is attracted to the centre of the earth, and the force with which the earth attracts any particle to itself is, as we shall see in Dynamics, proportional to the mass of the particle.:. If the body be small, compared with the earth, the lines joining its component particles to the centre of the earth will be very approximately parallel.....
—*Statics* by S.L. Loney, Page 107

गया है। जिस भाव के अवस्थित होने पर अवस्थाभेद वशात् साम्यभाव का ध्वंस नहीं होता, प्रत्युत् वह नूतन अवस्था में भी पुनरपि साम्यभाव धारण कर लेता है, वह है उदासीन साम्यभाव। भूततन्त्र में जिन तत्वों का निरूपण किया गया है, उसका यथाप्रयोजन संवाद ग्रहण किया गया। अब मनुष्य समाजशरीर भी भूततन्त्र विवृत नियमानुसार ही कार्य करता है, उसी नियम के अधीन है, यह प्रतिपादित किया जायेगा।

समाज शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'अज' धातु के उत्तर में 'घञ' प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। अज धातु का अर्थ है गति (Motion) एवं सम उपसर्ग यहाँ समान, एक्य, सहित इन अर्थों का द्योतक है। समाज शब्द का व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ है समूह-संहति, समिति, संघात (Mass, Aggregate, System)। अमरकोष में पशवादि इतर जीव भिन्न मनुष्यादि श्रेष्ठ जीव वृन्द की संहति को समाज तथा पशुओं की संहति को समज कहा है। अमरकोष का अभिप्राय है समानयन्त्र, सम-लक्ष्य, अन्योन्याश्रयी मनुष्यादि उत्कृष्ट जीवगण के समप्रयोजन अथवा समानार्थ सिद्धि के लिए एकीभूत भाव है समाज। परमाणुसमूह संहति शक्ति के प्रभाव से परस्परतः संहत होकर क्षुद्-बृहद्-संघात में परिणत हो जाते हैं। मनुष्यादि बहुकोषात्मक जीवगण की शरीर उत्पत्ति प्रणाली की पर्यालोचना करने से ज्ञात होता है कि कोषसमूह की संहति से ही मनुष्यादि बहुकोषात्मक जीवसमूह का शरीर सम्मूर्च्छित होता है। कोषसमूह परस्परतः संहत होकर क्षुद्र-क्षुद्र शरीरावयव (Tissue) के रूप में परिणत हो जाते हैं। क्षुद्र-क्षुद्र शरीरावयव परस्पर समवेत होकर पृथक्-पृथक् शरीरयन्त्र का निर्माण करते हैं। शरीरविज्ञानी कहते हैं कि एक कोषात्मक जीववृन्द अनन्य सहाय होकर प्राणधारणोपयोगी सभी कर्म निष्पादित करते हैं, किन्तु बहुकोषात्मक जीवसमूह की शरीरकर्म निष्पत्ति श्रम का विभाग कर दिया गया है।

शरीरयन्त्र के संविभाग के साथ शरीरकर्म का भी संविभाग होता है। स्नायु-पेशी इत्यादि जैसे एक मनुष्य-शरीर के भिन्न-भिन्न कर्म-निष्पादक यन्त्र हैं, उसी प्रकार मनुष्य समाज शरीर का प्रत्येक मनुष्य पृथक्-पृथक् यन्त्र है। क्षुद्रतम जीव जैसे अनन्य सहाय कोष से ही सभी कर्म निष्पादित करते हैं, उसी प्रकार मनुष्य समाज की प्रथमावस्था में प्रत्येक मनुष्य को अपना अभाव मोचन करने के लिए अपने ही ऊपर निर्भर रहना पड़ा। समाज की इसी अवस्था में समाजशरीर रक्षा के बिना दूसरी समवेत क्रिया द्वारा अन्य किसी प्रकार का प्रकृष्टेतर फल समासादित नहीं हो सका। मनुष्य समाज में प्रत्येक व्यक्ति जब अपने लिए विशेष-विशेष कर्म का निर्वाचन करके उसकी उन्नति विधान में मनोनिवेश करता है, तब उसकी विशेष-विशेष कर्मपटुता की मात्रा वृद्धि को प्राप्त करती है। तदनन्तर शरीर एवं मानस, इन दोनों कर्मसमूह में से जो व्यक्ति जिस कर्म सम्पादन करने के योग्य होता

है, वह व्यक्ति उस कर्म को करता है। इस प्रकार परस्पर परस्पर की सहायता से परम कल्याण साधनार्थ पटु हो जाता है।[1]

ब्राह्मणादि जातिभेद सामाजिक उन्नति का बीज है। इस विवेचना से यह सूचित हो गया। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि शास्त्र के साथ इस मत की सर्वांश में एकता नहीं है। शास्त्र का कथन है कि जो सब व्यक्ति अपने लिए भिन्न-भिन्न कर्म का निर्वाचन कर लेते हैं, उसका भी विशेष कारण है। विशेष-विशेष कर्म का निर्वाचन (व्यक्ति द्वारा) काकतालीय न्याय से नहीं होता। सभी पृथक्-पृथक् योग्यता लेकर जन्म लेते हैं। प्रत्येक व्यक्ति जन्म से अथवा जाति से भिन्न-भिन्न प्रतिभायुक्त होते हैं। पूर्वजन्म स्वीकार न करने पर पूर्वजन्मकृत कर्मफल का अनुबन्ध अभ्युपगम न करने से व्यक्तिगत योग्यता अथवा प्रतिभाभेद का कारण क्या है, यह प्रतिपन्न नहीं हो पाता।

भूततंत्र का कथन है कि गतिनिरोध अथवा गतिप्रवर्तन यह दो क्रिया शक्ति करती है। यह गतिशील वस्तु को स्थिर करने अथवा उसकी गतिपरिवर्तन प्रकृति को विनिवृत्त करने की भी चेष्टा करती है। समाजशरीर का प्रत्येक मनुष्य भिन्न-भिन्न संघात (Mass) है। विविध शक्ति प्रत्येक मनुष्य पर जो भिन्न-भिन्न संघातादि क्रिया करती है, उसके कारण वह कर्म-सम्पादन के योग्य होता है। कतिपय व्यक्ति प्रधानतः निरोध शक्ति (Potential Energy) युक्त होते हैं। ये सभी व्यक्ति अपने विशिष्ट सामाजिक पद हेतु जो कार्य करते हैं, (From their position and status in the social system), जैसा कार्य कर पाते हैं, अन्य व्यक्ति वैसा नहीं कर पाते। राजसचिव, राजप्रतिनिधि, सेनाध्यक्ष, राजा इत्यादि इसी श्रेणी के संघात हैं। अन्य शक्तिसमूह इन्हें इन सभी उच्च पद पर उन्नमित, प्रतिष्ठापित कर सकते हैं, किन्तु इनका प्रभाव यह है कि ये उच्चपद निमित्तक हैं। इनकी निरोधशक्ति स्थिर है। यदि इनको उच्चपद से अधस्तन समभूमि पर स्थापित किया जाये (Placed on a lower level), तब इनका वैसा प्रभाव नहीं रह जायेगा।

---

1. With this structural differentiation is associated a corresponding differentiation of function; for whilst in the life of the most highly developed and complex organism we witness not act which is not foreshadowed, however vaguely, in that of the lowest and simplest, yet we observe in it that same division of labour which constitutes the essential characteristic of the highest grade of civilization.For in what may be termed the elementary form of Human Society, in which every individual relies upon himself alone for the supply of all his wants, no greater result can be attained by the aggregate action of the entire community then its mere maintainance; but as each individual selects a special mode of activity for himself, and aims at improvement in that speciality, he finds himself attaining a higher and yet higher degree as aptitude for it.
—*Principles of Human Physiology* by W.B. Carpenter, Page 4

साधारण जन संघ (Vulgar Crowd) प्रधानतः व्युत्थान शक्ति (Kinetic Energy) विशिष्ट होते हैं। ये इतस्ततः संवेग गमनागमन करते हैं। कोलाहल करते हैं। इनको देखकर अतिमात्र कार्यसमाकुल समझना पड़ता है। जो यह सब भूलकर सुखनिद्रा में चले जाते हैं, वे ही वास्तव में उनकी निरोधशक्ति की क्रिया द्वारा प्रधान राजयन्त्र परिचालित करते हैं।[1] भौतिक संघात में जिस प्रकार से आकर्षण-विप्रकर्षणरूपी द्विविध शक्ति है, मनुष्यसंघात में भी, समाजशरीर में भी, यही द्विविध शक्ति विद्यमान है। प्रत्युत् प्रत्येक व्यक्ति ही उनके प्रति क्रियाकारिणी विविध शक्ति का केन्द्र स्वरूप है। प्रत्येक भौतिक वस्तु ही गुरुत्व तथा मध्याकर्षण शक्तियुक्त है। दो जड़ कण का आकार चाहे जो भी हो, वे परस्परतः परस्पर का आकर्षण करते हैं। पृथ्वी चन्द्र का तथा चन्द्र पृथ्वी का आकर्षण करते हैं।

ऊपर फेंका गया एक पत्थर पृथ्वी के प्रति क्रिया करता है। समाजशरीर का प्रत्येक संघात अथवा यन्त्र, प्रत्येक मनुष्य, कितना भी क्षुद्र अथवा नगण्य क्यों न हो उसका प्रतिवेशिक आकर्षण होता है। संसार में ऐसा कोई भी पुरुष विद्यमान नहीं है, जो अपने सहचरगण में अपने सद्गुणों को संचरित न करे। भौतिक प्रकृति में जिस प्रकार की संसर्गवृत्तिक अथवा संहति शक्ति की अभिव्यक्ति लक्षित होती है, समाजशरीर में भी उसी प्रकार उसकी अभिव्यक्ति परिदृष्ट होती है। भिन्न-भिन्न भौतिक वस्तु में संहति शक्ति का जैसा तारतम्य है, अर्थात् एक वस्तु की उक्त शक्ति जैसे दिग्भेद में (Different Direction) में भिन्न प्रकार से क्रिया करती है, मनुष्यगण में वह शक्ति देश-काल-पात्र भेद से भिन्न-भिन्न रूप से क्रिया करती है। एक-एक व्यक्ति में उक्त शक्ति देश-काल-पात्र भेदानुसार पृथक् रूप से क्रिया करती है। इन्द्रियगोचर दैशिक व्यवधान में अवस्थित दो जड़ कणा अपनी सामग्री अथवा द्रव्य के गुणनफल के अनुपातीय बल तथा दूरत्व के वर्गानुसार परस्परतः परस्पर का निर्देश बल से आकर्षण करेंगे।

---

1. Each individual is a mass, acted on by numerous forces capable of doing work, which work can be measured and its velocity calculated. Some individuals have a vast potential energy; that is to say from their position and station in the social system they have a power which is capable of producing work which a less exalted individual has not....
Other fores may have raised men to their exalted positions; but their influence is due to their height, their potential energy. Placed in a lower level, they would cease to have that power... So the vulgar crowed rushes on with plenty of kinetic force, making noise enough and looking very busy; while those who seem to sleep in calm forgetfullness exercise their potential energy and do the real work of turning the great engine of the state.

— *The Romance of Mathematics*, Page 76-78

यदि हम किसी समतल प्रदेश में किसी गोलाकार संघात को स्थापित करें तब वे परस्परतः परस्पर का निर्देश बल से आकर्षण करते हैं, यह कहा जा सकता है। सामग्री के मात्राधिक्यानुसार आकर्षण-शक्ति का मात्राधिक्य होता है। राज्य-समूह की संगठन सामग्री की पर्यालोचना करने से विदित होता है कि राज्यसमूह भी इसी नियमानुसार संगठित होता है। कृषि प्रयोजनक अधिवासन, समाजगठन राज्य-सम्मूर्च्छन की प्रथमावस्था है। प्रथमतः केवल एक परिवार अथवा अन्यान्य परिवार वर्ग के साथ मानव देश के किसी अकृष्ठ भूमि-भाग पर अधिवास करता है, तथा उसी से एक छोटा उपनिवेश संगठित हो जाता है। इस प्रकार से देश के अन्यान्य भूमि-भाग में अन्यान्य परिवार वर्ग आकर अधिवास प्रारम्भ कर देते हैं। इस प्रकार से देश परस्पर असम्बद्ध रूप से इन सभी मनुष्य संघ द्वारा अधीकृत हो जाता है। ऐसा अधिवास ही समस्त राज्यों की व्यवस्था है। यह राज्यों की आद्यावस्था है। ग्रीस, इटली, अफ्रीका, इंग्लैण्ड, जर्मनी आदि सभी राज्यों ने इसी प्रकार के अधिनिवेश से जन्म-लाभ किया है। उक्त पृथक्-पृथक् उपनिवेशों की पूर्वोक्त उदाहरण द्वारा समतल भूमि में स्थापित पूर्वोक्त गोलाकार संघात के साथ (Circular masses situated on the plane surface) तुलना की जा सकती है। प्रथमतः ये परस्पर सम्पूर्ण पृथक् रूप से स्व-स्व शासनकर्त्ता के अधीन अवस्थान करते हैं। प्रत्येक उपनिवेश अपनी स्वतन्त्र-स्वतन्त्र व्यवस्था तथा नियम का अनुवर्त्तन भी करते हैं। तदनन्तर संहति शक्ति के द्वारा परस्परतः आकृष्ट होकर एक राज्य में परिणत हो जाते हैं। सभी एक राजा से शासित होते हैं। एक ही नियम का अनुवर्त्तन भी करते हैं। जैसे जल के बुदबुद् परस्पर मिलकर एक समूह बन जाते हैं, गोलाकार संघात परस्पर मिलकर एक बृहत् वृत्त अथवा वक्राकार (One large circular or other curve) धारण करते हैं, यही है सामाजिक आकर्षण नियम।

वैज्ञानिक Maxwell कहते हैं—"संघात की समष्टिभूत शक्ति का परिणाम उनकी अन्योन्य क्रिया के कारण परिवर्तित होकर वर्द्धित तथा अपेत नहीं होता। तत्वतः वह एक भाव में अवस्थापन करता है।" वैज्ञानिक विद्वान् मैक्सायल इस सत्य की उपपत्ति करते समय कहते हैं कि संस्थान (System) का धर्मगत परिवर्तन होने पर भी वह तत्त्वतः एकरूप रहता है। परिवर्तन के पूर्व संस्थान का धर्म अथवा शक्ति का मान जैसा, जिस रूप में रहता है, परिवर्तन के पश्चात् भी अविकल उसी प्रकार का रहता है। किसी अंश में भी उसकी ह्रास-वृद्धि नहीं होती। संस्थान में किसी प्रकार की आन्तर क्रिया द्वारा जब उसके धर्म में अथवा शक्ति में ह्रास वृद्धि नहीं होती, तब स्वीकार करना होगा कि एक अवस्था से अवस्थान्तर में गमन में अथवा परिवर्तनकाल के संस्थान में

परिणामशक्ति का जो अपाय होता है, निश्चय ही उस परिणाम की शक्ति उसमें प्रवृष्ट हो जाती है।[1]

समाज संस्थान की ओर दृष्टिपात करने से यह नियम स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो जाता है। एक समाज की अवनति होने पर अन्य समाज स्तर की उन्नति होती है। उन्नति तथा अवनति चक्र पर्यायक्रम से आवर्तित होता है। समष्टिभूत सामाजिक शक्ति का क्षय नहीं होता, न तो वृद्धि ही होती है।

किसी जड़ बिन्दु के ऊपर विपरीतदिक् से दो बल प्रयुक्त होने पर यदि वह किसी ओर न जाकर स्थिरतः अवस्थान करता है, तब इस बलद्वय को समान नहीं कहते। किसी जड़ बिन्दु के प्रति एक दिशा की ओर दो बल (तुल्य मात्रा के दो बल) का प्रयोग करने से जो बल उत्पन्न होता है, उसका परिणाम प्रत्येक का द्विगुण होता है। तीन बल प्रयुक्त होने पर जिस बल का संचार होता है, उसका परिणाम प्रत्येक का त्रिगुण होता है। यदि एकाधिक बल ऋजु रेखा क्रमेण अवस्थित होकर किसी बिन्दु के निर्दिष्ट दिक् की ओर अभिमुख हो आकर्षण करे तब प्रयुक्त बल-समूह का परिणाम उनके योगफल के तुल्य होगा, किन्तु यदि कतिपय बल एक ओर तथा कतिपय बलं उसके विपरीत दिशा की ओर आकर्षण करे, तब वहाँ उसका परिणाम इन दोनों बलसमूह के वियोग फल के समान एक बल के बराबर होगा।

यदि कतिपय बल एक ही सरल रेखा क्रम में अवस्थित होकर कार्य करते हैं, तब उनका परिमाण उनकी वैजिक समष्टि के तुल्य होगा। 5 सेर, 3-2 सेर परिमित दो बल यदि ठीक सरल रेखाक्रम से किसी वस्तु का आकर्षण एक ओर करे और 8 सेर परिमित अन्य एक बल यदि ठीक विपरीत दिशा में प्रयुक्त हो, तब उसका परिमाण $5 + 2 - 8 = 1$ होगा अर्थात् 3 बल द्वारा जो कार्य निष्पन्न होता है, तीन बल का प्रयोग न करके 8 सेर का बल जिस ओर आकर्षित करेगा, उस दिशा में शुद्ध 1 सेर का ही बलप्रयोग करने से वह कार्य सम्पन्न हो जायेगा।

यदि एक जड़कणा दो भिन्न-भिन्न बल द्वारा दो भिन्न-भिन्न दिक् की ओर आकृष्ट होता है, तब किसी बिन्दु को इस जड़कणा का स्वरूप मान कर इस बिन्दु से दो ऋजु रेखा अंकित करे। यदि प्रयुक्त बलद्वय का दिक् परिणाम प्रकाश करें तब इन रेखाद्वय को बाहुस्वरूप करके, एक समान्तर क्षेत्र (Paralleogram) अंकित करने से, इस समान्तर क्षेत्र में जो कण (Diagonal) एक प्रान्त में इस बिन्दु से संलग्न है, उसके द्वारा प्रयुक्त बलद्वय के संघात बल का दिक् तथा परिणाम प्रदर्शित होता है। इस नियम को बलविषयक समान्तर क्षेत्र घटित नियम कहते हैं। यदि

1. For the system is in all respects the same at the begining and at the end of the cycle and in particular it has the same amount of energy in it, and therefore, since no internal action of the system can either produce or destroy energy, the quantity of energy which enters the system must be equal to that which leaves it during the cycle. —*Theory of Heat* by Maxwell, Page 93

प्रयुक्त बलद्वय की दिक् प्रकाशक सरल रेखाद्वय के अन्तर्गत कोई समकोण होता है, तब ज्यामिति के प्रथम अध्याय की 47वीं प्रतिज्ञा का अवलम्बन लेकर कर्ण रेखा का परिणाम अनायास ही निरूपित हो जाता है। कर्णरेखा का वर्ग परिणाम उक्त रेखाद्वय की वर्ग समष्टि के तुल्य है। यदि एक बिन्दु में प्रयुक्त बलद्वय का दिक्प्रकाशक रेखाद्वयान्तर्गत कोण समकोण से छोटा अथवा बड़ा होता है, तब त्रिकोणमिति के नियमानुसार संघातबल प्रकाशक कर्णरेखा का दैर्घ्य स्थिर करके संघातबल के परिणाम को अवधारित किया जाता है।

जगत् गतिमूर्ति है, जगत् कर्मक्षेत्र है। नाना जातीय बल तथा बलक्षेत्र की अन्योन्य क्रिया से जगत् का विविध परिणाम संघटित होता है। अतएव किसी जागतिक पदार्थ का तत्वानुसंधान करने के लिए स्थिति विज्ञान तथा बल अथवा गति विज्ञान का आश्रय लेना ही होगा। भूततंत्र वास्तव में स्थिति विज्ञान तथा गति विज्ञान का मिलित रूप है। ये दोनों गणित अथवा ज्योतिष की ही दो शाखाएँ हैं। इसी कारण भगवान् पराशर गणित को खगोलगणित तथा भूगोलगणित रूप से भागद्वय में विभक्त करते हैं। हमारा विश्वास है कि फलित ज्योतिष विज्ञानवृक्ष का सारतम फल है। ऐसी कोई भी विज्ञान-शाखा नहीं है जिसके साथ ज्योतिष का सम्बन्ध न हो। स्थिति तथा गति विज्ञान की फलित ज्योतिष पूर्णमूर्ति है। विद्वान् स्पेन्सर ने विज्ञान का जो लक्षण कहा है, तदनुसार फलित ज्योतिष तथा योग ही प्रकृत विज्ञान रूप से लक्षित होता है। फलित ज्योतिष द्वारा जगत् की सभी घटनाओं का पूर्वेक्षण (Prevision) किया जाता है। बलसंघात (Composition of Forces) बलसमान्तर क्षेत्र, बलविघात इत्यादि विषय की व्यापक प्रयोगभूमि को फलित ज्योतिष ने ही प्रदर्शित किया है। जन्मपत्रिका से जातक का जीवनस्रोत किस दिशा में, किस गति से प्रवाहित होगा, यह जाना जाता है। जातक की लोकयात्रा ज्ञात हो जाती है। परमायु प्रमाण से अवगत होते हैं। यह कैसे जाना जाय, इसके निरूपणार्थ जब कोई प्रवृत्ति करता है, तब उसे उपलब्धि होगी कि फलित ज्योतिष विज्ञानरूपी वृक्ष का सारतम फल है। दुःख की बात है कि फलित ज्योतिष को आधुनिक वैज्ञानिक विज्ञान की श्रेणी में नहीं मानते।

समाज संस्थान में बलसंघात का, बलविघात में बलसमान्तर क्षेत्र का रूप प्रतिनियत परिलक्षित होता है। साधारण मत के बल (Force of Public Opinion), संघर्ष (Friction) इत्यादि बलसंघात के कारण समाज संस्थान की गति का दिक् परिवर्तित हो जाता है।

जैसे क्षुद्र-बृहत् जड़संघात का एक-एक भाव-केन्द्र है, वैसे ही मनुष्यसंघात का भी एक-एक भाव-केन्द्र है। किसी द्रव्य के भाव-केन्द्र का आलम्बन प्राप्त होने अथवा घृत होने से जैसे उनका समुदाय अंश स्थिरता को प्राप्त हो जाता है, उसी तरह व्यष्टि-समष्टि मानवसंघात के भाव-केन्द्र के आलम्बन प्राप्त अथवा घृत होते ही उसका समुदाय भाग स्थिरत्व को प्राप्त हो जाता है। राजा को पृथ्वी तथा प्रजा को

क्षुद्र, क्षुद्रतर अथवा क्षुद्रतम संघातरूपेण ग्रहण करने से, उपमान (Analogy) द्वारा राजा एवं प्रजा का सम्बन्ध स्पष्टत: निर्णीत भी हो जाता है।

भूततन्त्रतूलिका द्वारा चित्रित राजा तथा प्रजा की प्रतिकृति का रूप यथाप्रयोजन कहा गया। गणित तूलिका चित्रित प्रतिकृति के साथ भूततन्त्र तूलिका चित्रित प्रतिकृति में कोई पार्थक्य नहीं रहता। जीवविज्ञान तूलिकाङ्कित राजा तथा प्रजा की प्रतिकृति के रूप को इसी के साथ एकरूप जैसा प्रदर्शित किया गया। अब यह देखना है कि राजनीति कुशल विद्वान् राजा के प्रयोजन के सम्बन्ध में कैसा अभिप्राय प्रकाश करते हैं?

एक अनन्य सहाय शक्ति द्वारा जो कार्य, जिस समय जिस प्रयास से सम्पादित होता है, अन्य शक्ति द्वारा वही कार्य उसकी अपेक्षा अल्प समय में, अल्प प्रयास से तथा सुचारु रूप से सम्पन्न हो सकता है। अनेक कार्य ऐसे हैं जो अनन्य सहाय शक्ति से साधित नहीं हो सकते। प्रतिबन्धक बल का अतिक्रमण करना ही कर्म है। इसका अतिक्रमण करने के लिए तदपेक्षा अधिकतर विरुद्ध बल का संचय करना आवश्यक है। अत: श्रमविभाग (Division of Labour) सुचारुरूपेण अल्प प्रयास से कार्य निर्वहण का प्रकृष्ट उपाय है। अधिकार अथवा योग्यतानुरूप कार्य-विभाग करने से कार्य-निष्पत्ति में सुविधा होती है। यह ज्ञान ही राज्यपद्धति-स्थापन का प्रवर्त्तन कारण है।[1] समाज की नितान्त असभ्यावस्था में प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने शरीर तथा सम्पत्ति की रक्षा में अपने ऊपर ही निर्भर होना पड़ता था। इसके लिए उस समय सभी सर्वदा आयुधयुक्त (Armed) तथा सावधान रहते थे। तब सभी स्थावर सम्पत्ति ही (Morable Property) संग्रह करते थे, क्योंकि कोई भी व्यक्ति उस काल में अपनी सम्पत्ति से दूर रहकर निश्चिन्त नहीं रह सकता था। लोगों का अधिकांश समय सम्पत्ति रक्षा तथा आत्मरक्षा में ही व्यतीत होता था। तब भी कोई निर्विघ्न दिनातिपात करने में समर्थ नहीं था। इन सब असुविधा के निवारणार्थ राजा का प्रयोजन प्रतीत होने लगा। "मेरी वश्यता स्वीकार करने पर मैं उसके विनिमय में तुम लोगों की रक्षा करूँगा।" ऐसी प्रतिज्ञा करने वाला व्यक्ति सभी राज्यों का अंकुर (Nucleus) स्वरूप है।[2] अतएव अब राजा तथा प्रजा के शास्त्रांकित रूप का वर्णन किया जायेगा।

●

1. Government itself is wholly founded on a sense of the advantages resulting from the division of employments.
   — *The Principles of Political Economy* by J.R.M. Culloch, Page 99
2. In the rudest state of society each man relies principally on himself for the protection both of his person and of his property. For these purpose he must be always armed and always watchful; what little property he has must be moveable, so as never to be far distance from its owner...
   The nucleus of every government must have been some person who afford protection in exchange of submission.
   —*Senior on Political Economy*, M. Culloch

द्वितीय परिच्छेद

राजा तथा प्रजा

राजा तथा प्रजा का शास्त्रांकित रूप—वेदादिशास्त्रों ने राजा तथा प्रजा का सम्बन्ध-प्रदर्शन करते समय जो कहा है, उसकी तात्पर्योपलब्धि करते समय प्रथमतः ईश्वर, ईश्वर की विभूति अथवा उनकी शक्ति—देवतागण-काल-दिक्-स्थूल-सूक्ष्म सभी ईश्वरीय नियम-प्रकृति के सभी पर्व, धर्म तथा कर्मतत्त्व भोक्तृ तथा भोग्य पदार्थ सम्बन्ध तत्व, इन सबका स्वरूप-दर्शन आवश्यक है। हम यह नहीं जानते कि इन सबका यथार्थ स्वरूप क्या है ? इसे सम्यक् रूप से जानने के लिए अक्षम होने के कारण यह कहना उचित होगा कि हम शास्त्रांकित राजा तथा प्रजा की प्रतिकृति का पूर्णरूप से वर्णन करने योग्य पात्र नहीं हैं। राजा तथा प्रजा की शास्त्रांकित प्रकृति का दर्शन करने के पहले जो कुछ समझा था, उसे भी हम इस स्वल्प आयतन ग्रन्थ द्वारा सम्पूर्णतः नहीं बतला सकते। अतः यह निश्चित है कि पाठकगण इतना पढ़कर कदापि तृप्त नहीं होंगे, तथापि प्रतिज्ञारक्षणार्थ इस सम्बन्ध में दो-एक बात कहना आवश्यक प्रतीत होता है।

दीप्तार्थक 'राज्' धातु उत्तर में 'कनिन' प्रत्यय करके 'राजन्' पद सिद्ध होता है। मेदिनी में प्रभु-नृपति-क्षत्रिय-रजनीपति (चन्द्र), यक्ष, शक्र (इन्द्र), राजन् शब्द के ये सब अर्थ कहे गये हैं। निरुक्तटीकाकार भगवान् दुर्गाचार्य कहते हैं कि पंच लोकपाल के शरीर से जो देदीप्यमान—शोभायमान हैं वे हैं राजा।[1] ऋग्वेद में प्रभु-ईश्वर-भूपति इत्यादि अर्थ में 'राजन्' शब्द का प्रयोग किया गया है।[2]

मनुसंहिता के सप्तमाध्याय में राजधर्म व्याख्यात है। भगवान् मनु राजधर्म-व्याख्या में प्रवृत्त होकर पहले ही कहते हैं—"ईश्वर जिस प्रकार से जनपद, पुर प्रभृति के प्रतिपालक, अभिषेकाधिपत्यादि गुणयुक्त राजा की सृष्टि करता है, वह

---

1. 'राजा रा जाते' —निरुक्त। 'दीप्तते ह्यसौ पञ्चानां लोकपालानां वपुषा'—*निरुक्तटीका*
2. इन्द्रोवातौ वसितसत् राजा शमस्य च शृङ्गिणी वज्रबाहुः।
   सदुराजा क्षयिते चर्षणीनामरान्न नेमि परिता वभूत॥ —*ऋग्वेद संहिता* 1/2/38/15
   अर्थात् वज्रबाहु इन्द्र, परमैश्वर्ययुक्त पुरुष, परमेश्वर ही रथचक्र की परितः वर्तमान नेमि, जिस प्रकार से अर-रथनाभिबद्ध काष्ठ विशेष समूह को व्याप्त करके रहता है उसी प्रकार स्थावर-जंगम-शान्त (जो प्रहरण में प्रवृत्त नहीं होता), अह्वगर्दभादि, शृंगी (शृंगयुक्त महिष-बैल इत्यादि) तथा मनुष्यसमूह सबके राजा के रूप में परमेश्वर अवस्थान करता है। देदीप्यमान रहता है। जो विश्वजगत् को धारण किये स्थित हैं, विश्वजगत् जिनके द्वारा नियमित है, वे ही विश्वजगत् के राजा हैं।

राजा कैसा आचरण करे, जो सब कार्य राजा द्वारा अनुष्ठेय है, जिससे राजा को परमासिद्धि एकाधिपत्य प्राप्त हो, अब वह सब कहता हूँ।[1] मेधातिथि तथा कुल्लूक भट्ट कहते हैं कि "यहाँ राज शब्द क्षत्रिय जातिवाचक नहीं है, यह अभिषेक, आधिपत्य आदि गुण वाले पुरुष का वाचक है। श्लोक में व्यवहृत 'नृप' शब्द भी जनपद ऐश्वर्यवान पुरुष के लिए प्रयुक्त हुआ है।[2] क्षत्रिय ही मुख्य राज्याधिकारी है, यह निःसंदिग्ध है, क्योंकि अगले श्लोक से यही सूचित होता है। तथापि क्षत्रिय के अभाव में अन्य वर्ण वाले भी राजा हो सकते हैं। राजा के अभाव में प्रजा लुप्त हो जाती है, इसलिए क्षत्रिय के अभाव में अन्य वर्ण वाले भी राजा हो सकते हैं। अन्य वर्ण के किसी व्यक्ति को राजा बना देना उचित है, जो योग्य हो। अराजकता होने से सभी व्याकुल हो जाते हैं। इसलिए समुदाय की पूर्ण रक्षा के लिए प्रजापति ने राजा की सृष्टि की है। राजा के न रहने से प्रजा का अपाय परिहार नहीं होता। दुर्बल को बलवान अभिभूत कर लेते हैं। लोग शास्त्रमर्यादा का अतिक्रमण करने लगते हैं। सर्वप्रकार का अमंगल होने लगता है।"

इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र, कुबेर, इन अष्टदिक्पाल का सारभूत अंश लेकर प्रजापति ने राजा की सृष्टि की है। राजा देवश्रेष्ठ इन्द्रादि के अंश से सृष्ट है। इसलिए अपने प्रभाव से वह सभी प्राणीगण को अभिभूत कर लेता है। प्रताप में वह अष्टलोकपाल के समतुल्य है। अर्थात् वह अलौकिक शक्ति वाला कहा गया है। यदि राजा बालक है, तब भी उसे साधारण मनुष्य न मान कर उसकी अवज्ञा नहीं करना चाहिए। राजा वास्तव में मनुष्य नहीं है। वह मनुष्य-रूप में स्थित प्रधान देवता विशेष है।[3]

शुक्रनीति में कहते हैं कि जो धर्मपरायण राजा है, वह देवता का अंश है। जो राजा धर्मलोपी है, प्रजा को कष्ट देता है, वह राक्षस का अंश है। उसने असुरांश से जन्म लिया है। राजा को अष्टलोकपाल के अंश से सृष्ट क्यों कहा गया? इसका समाधान करने के लिए देवता कौन पदार्थ है, वेदादिशास्त्र देवता शब्द से किस पदार्थ को लक्ष्य करते हैं, यह जानना उचित प्रतीत होता है।

देवता के सम्बन्ध में आजकल नानाविध प्रश्न उत्थापित किये जा रहे हैं। शास्त्रविरुद्ध, स्व-स्वप्रतिभामूलक देवता तत्व सम्बन्धित विविध सिद्धान्तों की बात आजकल सुनने में आ रही है। मूलर प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों ने देवता शब्द पर

1. राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि यथोवृत्तो भवेन्नृपः। सम्भवश्च यथा तसत् सिद्धिश्च परमा यथा॥
2. राजशब्दस्तु नेह क्षत्रियवचनः किं तर्हि
अभिषेकाधिपत्यादि गुणयोगिनि पुरुष वर्त्तते।
अतएवाऽयथावृत्तो भवेन्नृपः। नृपग्रहणेन जनपदैश्चर्यवतोऽधिकारमाह।
एतेन क्षत्रिया एव राज्याधिकारीति सूचितं क्षत्रियभावे—
तदतिदेशोऽपि ग्राह्यः अन्यथा प्रजालोपः स्यादिति भावः—*मेधातिथि*
3. मनुसंहिता का वचन।

अनेक विचार किया है। विद्वान् मोक्षमूलर (मैक्समूलर) पाश्चात्य वेदज्ञ थे। अनेक का विश्वास है कि इनकी वेद पर श्रद्धा थी, किन्तु हमारा विश्वास और कुछ है। उक्त विद्वान् के 5-6 ग्रन्थों के अध्ययन द्वारा यह ज्ञात हुआ है कि भले ही उनके हृदय का भाव कुछ और हो, परन्तु उन्होंने वेद को असभ्यावस्था की कृति माना है। उन्होंने इसे अदृष्टपूर्व अति पुरातन सामग्री (Old Curiosities) मान कर इसका आदर किया है। प्राचीन काल के मानव क्या करते थे, क्या सोचते थे, अग्नि, जल, सूर्य, मेघ इत्यादि प्राकृतिक पदार्थों को देखकर ही उनके चित्त में किस प्रकार के भाव उदित होते थे, इन सबका समाधान वेद के अतिरिक्त किसी अन्य ग्रन्थ से यथायथ रूप से नहीं होता। अतीत दिदिक्षु विद्वान् मोक्षमूलर ने इसीलिए वेद का संग किया था और कठोर परिश्रम करके वेदाध्ययन किया था, सुदूर देश से आकर वेद का संग्रह किया था।

वे वेद को अन्य दृष्टि से देखते थे, साक्षात्कृतधर्मा महर्षिगण द्वारा दृष्ट, उनके द्वारा अपौरुषेय बोध से संस्कृत, दुस्तर भवार्णव से पार होने के लिए एकमात्र तरणि-ज्ञान रूप वेद के रूप को वे नहीं देख सके। उन्होंने इसे वेद के रूप में न देखकर 'भेदा' (Veda) के रूप में देखा था। जिस दृष्टि से वेद के प्रकृत रूप को देखा जा सकता है, वह दृष्टि वेदोक्त साधना से ही विकसित होती है, ऐसा वेदप्राण वेदचरण-सेवक महर्षिगण के मुख से सुना है। वह दृष्टि केवल भाषा-ज्ञान से नहीं प्राप्त होती। वह दृष्टि जागतिक पद की मुखापेक्षी नहीं है। जागतिक समस्त ऐश्वर्य भी उस दृष्टि को विकसित नहीं कर सकता। वेद ने स्वयं कहा है—"समान पृष्ठोदर, समान पाणिपाद, समान अध्ययन से बहुतों में कोई वाक् अथवा शब्द को (वाक् अथवा शब्द वेद का ही पर्यायवाची है) देखकर भी देख नहीं पाता। सुन्दर रूप से अध्ययन का अभ्यस्त होकर भी, तीक्ष्ण विद्या वाला होकर भी प्रकृत अर्थ की अनभिज्ञता के कारण अधीत् वाक् अथवा शब्द के यथायथ स्वरूप-दर्शन में समर्थ नहीं होता। कोई इसे सुनकर भी नहीं सुनता। तब कौन व्यक्ति इसके प्रकृत दर्शन का अधिकारी है? किस भाग्यवान के हृदय में वेद का प्रकृतरूप प्रतिभात होगा? वेद जिसे योग्य मानकर अपने शरीर का प्रदर्शन कराता है, उसी भाग्यवान के हृदयान्तर में वेद का प्रकृत रूप प्रतिभात होता है।"[1] विद्वान् मोक्षमूलर कहते हैं कि—"वेद में अधिकांश स्थल बालोचित विचार से पूर्ण हैं। वेद के प्राथमिक तत्व प्रतिपादनार्थ वेद से बालोचित तथा असंगत विचारसमूह का निष्कर्ष कष्टसाध्य होने पर भी, यदि वह करना नितान्त प्रयोजनीय हो, तब ऐसा किया जा सकता है।"[2]

वेद बालोचित चिन्तापरिपूर्ण है, इसको प्रमाणित तथा प्रतिपादित करने के लिए विद्वान् मोक्षमूलर ने अत्यन्त प्रयत्न द्वारा ऋग्वेद के तीन-चार ऋक् को उद्धृत

---

1. *ऋग्वेद संहिता 8/2/23*
2. *Physical Religion* by Maxmullar, Page 161

किया है। प्रथम ऋक् प्रथमाष्टक के प्रथम मण्डल के 62वें सूक्त का नवम ऋक् है। उन्होंने इस ऋक् के समुदायांश का अनुवाद नहीं किया है। जिस अंश में अधिक बालकत्व दिखलाया है, मात्र उसी अंश का अनुवाद प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि वैदिक कवि (Poet) पुनः-पुनः विस्मयाविष्ट हृदय से जिज्ञासा करते हैं कि कृष्णा तथा लोहित वर्णा गौ कैसे श्वेत दुग्ध देती है? मन्त्र अत्यन्त सारगर्भित है। पण्डित मोक्षमूलर इसका वास्तविक तात्पर्य ग्रहण नहीं कर सके। इस प्रकार उन्होंने ज्ञानतः सत्य का अपलाप कर दिया। मन्त्र को पादटिप्पणी में उद्धृत किया जा रहा है।[1] वैदिक कवि बालक थे, वे बल-बुद्धि के कारण दुग्ध का वर्ण शुक्ल क्यों है, विस्मय से पूर्ण हृदय में पुनः-पुनः उसकी जिज्ञासा करते हैं। ज्ञानवृद्ध मोक्षमूलर क्या इस प्रश्न का समाधान करने में पारग हो सके? क्या विज्ञान से जिज्ञासा करने पर इसका प्रकृत उत्तर प्राप्त हो सकता है? जो भी हो "वेद कुछ भी नहीं है। यह बालकत्वपूर्ण है, यह असभ्य कृषकों का हृदयोच्छ्वास है।" मोक्षमूलर प्रभृति विद्वानों ने जो इस प्रकार का मत प्रकाशित किया है, वह उसी प्रकार है जैसे क्षुद्र मेघ योजनायत आदित्यमण्डल को द्रष्टा के संकीर्ण नयन पथ से आवरण करके आच्छादित कर देता है और कहता है, "यह देखो, मेरी कितनी शक्ति है, मैंने सुविस्तीर्ण आदित्यमण्डल को आवृत्त कर लिया।" स्वल्प बुद्धि वाला द्रष्टा मेघ की बात पर विश्वास कर लेता है। वह एक बार भी यह नहीं सोचता कि सूर्य जो मेघावृत्त हो गये हैं, यह मैं कैसे समझूँगा? वह यह नहीं सोचता कि मैं सूर्यालोक में ही तो यह देखता हूँ कि सूर्य के ऊपर मेघ का आच्छादन है। यदि तब सूर्य का आलोक न होता तब मेघ तथा उसके द्वारा सूर्य को आच्छादित करना क्या अन्धकार में देख पाता? अतएव समाधान यह है कि सूर्य को मेघ ने आवरित नहीं किया है, अपितु उसने हमारी संकीर्ण दृक्शक्ति को ही ढाँक दिया है।

वेद तथा ब्रह्म एक ही पदार्थ है। अविद्या क्या वेदरूपी सूर्य को आच्छादित कर सकती है? क्या स्वयंप्रकाश ब्रह्मतनु को आवृत्त कर सकती है? माया से परिच्छिन्न द्रष्टा की दृक् शक्ति को ही यह आवृत्त करती है। परिच्छिन्न बुद्धि जीव के ऊपर अविद्या मेघ का आधिपत्य स्पष्ट है। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि भारतवर्षीय शास्त्र-व्यवसायी विद्वानों में अनेक व्यक्ति वेद को ऐसी ही दृष्टि से देखते हैं (जैसे मोक्षमूलर देखते हैं)। विद्वान् मोक्षमूलर ने सत्यानुसंधानार्थ जितना आयास किया है, विदेशी होने पर भी वेदाध्ययनार्थ जितना परिश्रम किया है, वैसा हममें से कितने लोग करते हैं? वेद का जो स्वरविज्ञान विज्ञानराज्य का रत्न विशेष है, आधुनिक विद्वानों में से अनेक उसका स्वरूपावलोकन भी नहीं कर सकते। निदारुण आक्षेपों के साथ हमारे बंगाल में ही कई ख्यातनामा विद्वानों ने इस स्वर विज्ञान के प्रति उपाहास व्यंजनक वाक्य का प्रयोग किया है उसे मैंने सुना है। देश

1. ऋग्वेद संहिता 1/62/9

के अध:पतन का इससे भी और अधस्तन पर्व हो सकता है क्या, यह तो भगवान् ही जानें!

शास्त्र का उपदेश जानने के लिए मन्त्र के ऋषि, देवता, छन्द: को जानना आवश्यक है। मन्त्र के ऋषि आदि को बिना जाने मन्त्र का पठन-पाठन-जप-होम अथवा यजन-याजन जो करते हैं, वेद उनके लिए निर्वीर्य हो जाता है, कार्य-साधन में शक्तिहीन हो जाता है। केवल यही नहीं, इनको जाने बिना वेद के अध्ययन अध्यापन, जप-होम-यजन-याजन में प्रवृत्त पुरुष को नरकप्राप्ति, नीच गति मिलती है। वह पापभाक् हो जाता है।[1]

महर्षि शौनक कहते हैं कि प्रत्येक मन्त्र के देवता प्रयत्नपूर्वक वेदितव्य हैं। दैवज्ञ ही मन्त्रों की प्रकृत अर्थोपलब्धि कर सकेगा।[2] पूज्यपाद ऋषिगण मन्त्र के ऋषि, देवता तथा छन्द: को जानने के लिए इतने क्यों तत्पर हैं, सत्य का अन्वेषण करने वाले को यह जानना चाहिए। यहाँ हम देवता के सम्बन्ध में प्रयोजननानुसार कहते हैं।

दिव धातु के उत्तर में अच् प्रत्यय लगाने से देवपद सिद्ध होता है तथा देव शब्द के उत्तर में तल प्रत्यय करने से ('देवात्तल'—पाणिनि 3/1/134) देवता पद निष्पन्न हो जाता है। देव ही देवता है। पाणिनि के धातु पाठ से 'दि' धातु से क्रीड़ा, विजीगिषा (दुष्ट को जीतने की इच्छा), व्यवहार, द्युति (द्योतन-प्रकाशन), स्तुति (गुणकीर्तन), मोद (प्रसन्नता), मद, स्वप्न (निद्रा), कान्ति, गति (गमन, ज्ञान, प्राप्ति) ये दस अर्थ होते हैं। श्रुति तथा तन्मूलक शास्त्र में जिन-जिन अर्थ में देवता शब्द का प्रयोग हुआ है, विचार करने से ज्ञात होता है कि दिव् धातु के दस अर्थों में से कोई न कोई उन-उन स्थान पर संगत है। विद्वान् मोक्षमूलर देव (Deva) शब्द का अर्थ निर्वचन करते समय केवल द्युति को ही उसके अर्थरूप में ग्रहण करते हैं।[3]

आनन्दगिरि छान्दोग्योपनिषद् के मन्त्र की भाषा-टीका करते समय दिव धातु का इसी प्रकार दशविध अर्थ प्रस्तुत करते हैं। भगवान् यास्क कहते हैं कि दानार्थक अथवा दीप्त्यर्थक दिव् धातु के उत्तर में 'अच्' प्रत्यय लगाने से देव पद सिद्ध हो जाता है। जो भक्तों को उनकी प्रार्थनानुसार उनके अभिमत, ईप्सित का दान करते हैं,

---

1. एतान्यविदित्वा येऽधीतेनुब्रूते जपति जुहोति यजते।
याजते तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातायामं भवति। अथात्तयाराश्वगते
र्वा पद्यते स्थाणुर्वच्छ्रति प्रमीयते वा पापीयान् भवति।
—कात्यायन-प्रणीत *शुक्लयजुससर्वासुक्रमसूत्र*

2. वेदितव्य दैवतं हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नतः।
दैवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थमधिगच्छति॥ *—महर्षि शौनककृत बृहद्देवता*

3. It did not mean divine, for how should such a concept have been suddenly called into being?
—*Physical Religion* by Maxmuller, Page 134

अथवा तैजसतत्व प्रयुक्त जो दीप्ति ज्योतिर्मय हैं, वे देव हैं। जो क्रीड़ा करते हैं, जिनका क्रीड़ा कैवल्य ही विश्व ब्रह्माण्ड की सृष्टि-स्थिति-लय का कारण है, जो असुरगण का संहार करते हैं, उन पर विजय प्राप्त करते हैं, पापनाशक हैं, जो सबमें विराजमान हैं, व्यावहारिक जगत् में जो स्थावर-जंगम नानारूप से व्यक्त हैं, जो द्योतनस्वभाव हैं, जिनके प्रकाश से निखिल वस्तु प्रकाशित है, जो सबके स्तुतिभाजन हैं, विश्व ब्रह्माण्ड जिनका ही गुण-कीर्तन करता है, जिनकी विभूति तथा ऐश्वर्य का ख्यापन करता है, जो सर्वगतिशील, सर्वव्यापक, ज्ञानमय, चैतन्यरूप हैं, अखिल गति के जो लक्ष्य-स्थल हैं, वे ही देव हैं, देवता हैं।

देवता सम्बन्धित ज्ञान के लिए गौण तथा मुख्य कार्य के हेतु अथवा कारण ज्ञान का अर्जन करना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में जड़ तथा आध्यात्म विज्ञान दोनों का स्वरूपावलोकन वांछनीय है। देवता ही शक्ति तथा शक्तिमान्, इन द्विविध पदार्थों के वाचक हैं। पर तथा अपर भावद्वय के बोधक हैं। एक देवात्मा महाभाग्यहेतुक अणिमादि महैश्वर्य के कारण अनेक रूप से अर्चित किये जाते हैं। ऋग्वेद का कथन है कि इस परिदृश्यमान आदित्य को कोई इन्द्र, कोई मरणत्राता, मित्र, पापनिवारक तो कोई रात्र्यभिमानी वरुण, कोई अग्नि, कोई दिव्य तो कोई गरुत्मान कहता है। एक पदार्थ के नाना नाम अनेक प्रकार से कहने का कारण क्या है? देवतातत्व को जानने वाले विप्र अथवा मेधावी लोग एक परमात्मा की उनकी पृथक्-पृथक् विभूति के ऐश्वर्य के वर्णनार्थ अलग-अलग नाम से स्तुति करते हैं। एक परमात्मा ही इन्द्र-वरुण-अग्नि (पार्थिव अग्नि तथा वैद्युताग्नि तथा सूर्य), यम, मातरिश्वा इत्यादि अनेक नामों से पुकारे जाते हैं। भगवान् मनु कहते हैं कि परमात्मा ही इन्द्रादि अखिल देवता हैं। विश्व जगत् उनमें ही स्थित है। परमात्मा ही अग्नि, मनु, इन्द्र, प्राण, सनातन ब्रह्मरूप से अर्चित किये जाते हैं।

अतः देवता स्वरूपतः एक ही हैं। एक सर्वशक्तिमान देवता के ही अग्नि आदि देवता उनके प्रत्यंग हैं। जैसे मिट्टी से बना घट, कलश, इत्यादि मिट्टी से एक होते हुए भी भिन्न है, उसी प्रकार विविध देवगण एक होकर भी अन्योन्यापेक्षा से भिन्न हैं। तथापि अभिन्न भी हैं। अनन्य हैं। अंगसमूह (देवगण) अंगी (परमात्मा) से जैसे अलग नहीं हैं, उसी प्रकार देवगण परमात्मा से अभिन्न हैं। अंगी से अलग होकर प्रत्यंग अथवा अधिष्ठाननिरपेक्ष होकर प्रत्यधिष्ठान अवस्थान नहीं कर सकता। कार्य वास्तव में कारण से भिन्न नहीं है। सत्तालक्षण परमात्मा सर्वकार्य के परम कारण हैं। वे परब्रह्म हैं। स्थावर जंगमात्मक विश्व ब्रह्माण्ड उनसे ही प्रसूत हैं।

कार्य से कारण वास्तव में अभिन्न है। परिणाम का बहुत्व उपलब्ध होने पर भी प्रकृति अथवा कारण परमार्थतः नाना नहीं है। कार्यकारण ज्ञानी, तपस्या निर्दिग्ध कल्मष, तत्वदर्शी, सात्क्षात्कृतधर्मा ऋषिगण इसी कारण सनातन वेदोपदेशानुसार

स्थावर जंगमात्मक विश्व ब्रह्माण्डस्थ निखिल वस्तु समूह को ब्रह्मज्ञान से अर्चित करते हैं। विशेष के बीच परसामान्य का अवलम्बन करते हैं तथा वे इसी कारण विज्ञान के परपार भी देख सकते हैं। परमात्मा को जानने के लिए, उन्हें पाने के लिए, परमात्म भाव में भावित होना पड़ता है। चतुष्पाद ब्रह्मरूप में परिणत होना पड़ता है। मायाविजृम्भित अविद्या प्रसूत भेदबुद्धि को 'अहमेवेदं सर्वम्' रूप परमार्थ ज्ञानाग्नि द्वारा भस्मीभूत करना पड़ता है। रागद्वेष से रहित शान्त समुद्र के समान अथवा निष्कम्पहीन दीपशिखा के समान अवस्थान करना पड़ता है। विश्व विज्ञान प्रसूति श्रुति देवी की चरणकृपा से श्रुतिचरणाश्रित ऋषिगण परमात्म-लाभ का यही एक उपाय कहते हैं। इसीलिए वे चेतन-अचेतन-स्थावर-जंगम सभी को आत्मवत् जानकर पूजा करते हैं। देवता ज्ञान से सबकी स्तुति करते हैं। इसीलिए वेद का कथन है कि देवता-एक, देवता-दो, देवता-तीन, इसी कारण देवता 33, इसी कारण देवता अनन्त हैं। इसी कारण से देवता साकार हैं, इसी कारण देवता निराकार हैं, इसीलिए देवता न साकार हैं न निराकार। हम जिसे जिस भाव से देखते हैं, जिसकी दृक्-शक्ति हमारे समान है, वह पदार्थ उसकी दृष्टि में तद्भावेन प्रतिभात होने लगता है। भिन्न दृष्टि वाले दो पुरुष एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न रूप से ग्रहण करते हैं। ऋषिगण जिस दृष्टि से देवता को देखते हैं, जब तक हमारी दृष्टि ऋषि की दृष्टि के समान नहीं होगी, तब तक हम कभी देवता को उस दृष्टि से देख सकने में सफल नहीं हो सकते।

ईश्वर एक से अधिक नहीं है। प्रायः सभी धर्म तथा उपधर्म यही कहते हैं, तथापि हम यह समझ नहीं पाते और रागद्वेषपूर्ण हृदय से हम प्रकृत एकत्व की कैसे उपलब्धि कर सकते हैं। निरवच्छिन्न अनन्यता, तादात्म्य, सर्वथा भेदरहित होना ही एकत्व है और व्यावृत्ति बुद्धि से ही अनेकत्व का उदय होता है। इसीलिए कहना है कि परिच्छिन्नात्म-ज्ञान के राग-द्वेष से मलिन हृदय से ईश्वर एक है, वह सर्वव्यापक है, वह बहुः नहीं है, ऐसा कहने वाले का वाक्य उसकी अपनी अनुभूति जनित तथा हृदय का कथन नहीं है। यह आत्मज्ञानी से सुनी गई ध्वनि की प्रतिध्वनि-मात्र है। ईश्वर एक है कहने का तात्पर्य यह लिया जाता है कि जैसे ईश्वर किसी एक स्थान में रहकर विश्व जगत् का पालन करता है, जिस प्रकार राजा राजधानी से सम्पूर्ण राज्य का पालन करता है, जो उचित नहीं है। यह परिच्छिन्न बुद्धि का द्योतक है, जिसमें सर्व शब्द भी एकदेश वृत्तिरूपक प्रतिभात होता है। सत्य तो यह है कि ईश्वर सर्वत्र व्याप्त रहकर विश्व जगत् का परिपालन करता है। जो एकत्व ज्ञान के विकासक हैं, अविद्याध्वान्त निवारक वेदोपदिष्ट साधना रहित हैं, जो मैं, तुम, यह, वह इत्यादि दुर्भेद्य भेदबुद्धि के साथ संसार में स्थित हैं, जो गो, अश्व, कीट, पतंग, वृक्ष, लता, अग्नि, वायु, पृथ्वी आदि सर्व पदार्थ का ब्रह्मज्ञान से पूजन करने से विमुख हैं, देवता ज्ञान इनके चरणों में नत होने से अनिच्छुक रहता है। ये कभी भी

ईश्वर के प्राणाराम रूप का दर्शन प्राप्त नहीं कर सकते। वे इस एकत्वोपदेश का वास्तविक मर्म ग्रहण कर सकने में असमर्थ रहते हैं कि एक ब्रह्म के सिवाय दूसरा पदार्थ है ही नहीं।

वेद ने कभी सूर्य का ही अद्वितीय ब्रह्मरूपेण स्तवन किया है, यह कहा है कि सूर्य के अतिरिक्त अन्य देवता नहीं है, अन्य ईश्वर नहीं है, इस प्रकार से सूर्य के ही माहात्म्य का कीर्त्तन किया है। कभी इसी प्रकार अग्नि का, कभी इन्द्र का अद्वितीय ब्रह्मरूपेण स्तव किया है। अग्नि अथवा इन्द्र के अतिरिक्त अन्य देवता नहीं है, अन्य ईश्वर नहीं है और इनके महद् ऐश्वर्य का गायन किया है। इसी कारण पाश्चात्य विद्वान् मैक्समूलर यह स्थिर नहीं कर सके कि वैदिक ऋषि एकेश्वरवादी थे अथवा अनेकेश्वरवादी।[1]

वैदिक आर्यगण किसकी उपासना करते थे, किसे उपास्यरूपेण ग्रहण किया था, वे जड़ की उपासना करते थे अथवा चिन्मय ब्रह्म की उपासना करते थे, वे मूर्तिपूजक थे, अदेवता की आराधना में तत्पर थे अथवा सच्चिदानन्दमय ब्रह्म की उपासना करते थे, इसे भगवान् यास्क स्पष्टाक्षर में समझाते हैं। आवश्यक बात होने पर पाठक उस ग्रन्थ को देख सकते हैं। यहाँ प्रयोजनानुसार इतना ही कहना है कि उपासना किसको कहते हैं, कैसी उपासना करनी चाहिए, किस प्रकार से आधि-व्याधिमय भवधाम का त्याग करके चिरशान्तिमय ब्रह्मधाम में जाया जा सकता है, किस उपाय से इस मृत्युलोक में रहकर भी ईश्वर-सायुज्य का लाभ किया जा सकता है, किस प्रकार से पूर्ण शशधर, चित्तविमोहन, प्राणरमण, सुस्निग्धस्वरूप का निरीक्षण किया जा सकता है? दु:ख-सागर में डूबते हुए भी किस उपाय से सुधा-मिश्रित हँसी हँसा जा सकता है, कैसे जीवन-संहारक हलाहल को अमृत करके, अग्नि की दाहिका शक्ति को शीत रश्मि में परिणत करके, एक प्रकार से प्रकृति को आज्ञाकारी बनाया जा सकता है। कैसे मरणभय निवारित किया जा सकता है? वेदभक्त वेदप्राण वैदिक आर्य जाति के सिवाय अन्य किसी जाति ने इसका सन्धान नहीं पाया है।

अब महर्षि शौनक ने सूर्यादि देवता के सम्बन्ध में जो कहा है, उसका तनिक आभास दिया जा रहा है। वे कहते हैं कि वर्तमान, अतीत तथा भविष्यत्, स्थावर

1. In the Vedas are God after another is invoked. For the time being, all that can be said of a divine being is ascribed to him. The poet, while, addressing him, seems hardly to know of any other Gods. But in the same collection of hyms, sometimes even in the same hymns other Gods are mentioned, and they also are truly independent, or it may be, supreme, the vision of the worshipper seems to change suddenly, and the same poet who at one moment saw nothing but the sun, as the ruler of heaven and earth as the father and mother of the sun and of all the Gods.
— *Origin and Growth of Religion* by Maxmuller, Page 227

सभी पदार्थों का सूर्य ही उदय एवं प्रलय का कारण है। जिस सूर्य को सर्व प्रकार के पदार्थों की उत्पत्ति तथा प्रलय का कारण कहा, उसका स्वरूप क्या है? महर्षि का उत्तर है कि शाश्वत ब्रह्म ही सूर्य नाम से लक्षित है। वही सर्वपदार्थ योनि है। एक सूर्य ही स्वयं को त्रिधा विभक्त करके विद्यमान है। एक सूर्य ही पृथ्वी में अग्निनाम से, अन्तरिक्ष में वायु अथवा इन्द्रनाम से, द्युलोक में सूर्य नाम से कहा गया है। अग्नि आदि प्रत्येक के अलग-अलग कर्म के कारण वैश्वानर आदि नाम दिया गया है।[1] कोई-कोई कहते हैं कि वैदिक काल में अर्धसभ्य कवि अथवा कृषकों का यह भाव नहीं था। यह भाव पश्चात् काल में विकसित हुआ है। यह बात स्वीकार न करने पर अत्यन्त प्रयास से जिस क्रमविकासवाद की स्थापना की गयी है, उसकी भित्ति ही डगमगा जायेगी। इसलिए इस वाद की भित्ति को सुप्रतिष्ठित तथा सुदृढ़ करने के लिए ऐसे अनुमान का विशेष प्रयोजन है कि अर्धसभ्य कवि तथा कृषकों का यह भाव नहीं था। किन्तु महर्षि शौनक सभी बातों को वेद प्रमाण से कहते हैं। कोई भी बात अपनी कल्पना से नहीं कहा है। बृहदेवता का पाठ करके हमने जो कहा है, वह सत्य है या मिथ्या, पाठक इसे स्वयं समझें।

राजा को जिस कारण इन्द्रादि देवगण के सारांश से सृष्ट कहा गया है, वह समझाने के ही लिए हमने देवता के सम्बन्ध में दो-चार बातें कही हैं। शुक्राचार्य नीतिसार में कहते हैं कि इन्द्र ने जैसे अपने तपोबल से चराचर जगत् का आधिपत्य पाया है, रक्षण-दक्ष राज्य-पालन में निपुण नृपति भी उसी प्रकार भाग्भाक्, करग्राही हैं। वायु जिस प्रकार से गन्ध की प्रेरक है, वैसे ही नृप सत्-असत् कर्म के प्रेरक हैं। जैसे सूर्य तमः का नाश करके प्रकाश का प्रवर्तन करता है, राजा भी उसी प्रकार अधर्म का नाश करके धर्म का प्रवर्तन करते हैं। यम जिस प्रकार दण्ड देता है, राजा भी उसी प्रकार पापीगण को दण्ड देता है। अग्नि जैसे पवित्र है, अतः देवगण का भागभुक् है, राजा भी उसी प्रकार अखिल प्रजा रक्षणार्थ भागभुक् है, अपना ग्राह्यांश (कर) लेता है। जैसे वरुण जल द्वारा समस्त जगत् की पुष्टि का विधान करता है, राजा भी वैसे ही अपने कोष से सबका पोषण करता है। चन्द्रमा जिस प्रकार अपनी स्निग्ध किरणों द्वारा समग्र लोक को प्रसन्न करता है, राजा भी अपने दया-दाक्षिण्य आदि गुण से तथा पूर्त्तकार्यादि से प्रजा का मनोरंजन करता है। जैसे धनाधीश कुबेर

---

1. भवद्भूतं भविष्यञ्च जङ्गमं स्थावरञ्चयत्। अस्यैके सूर्यमेवेकं प्रभवं प्रलयं विदुः।
असतश्च सतश्चैव योनिरेषा प्रजापतिः। त्वद्क्षरष्णाव्ययश्च घश्चैतब्रह्म शाश्वतम्॥
कृत्वैव हि त्रिधात्मानमेषु लोकेषु तिष्ठति। देवान् यथायथं सर्वान् निवेश्य स्वेषु रश्मिषु॥
एतद्भूतेषु लोकेषु अग्निभूतं स्थितं त्रिधा। ऋषयो गोभिरर्चन्ति व्यञ्जितं नामभिस्त्रिभिः॥
इहाग्निभूत कृषिभिर्लोके स्तुतिभिरीडितः। जातवेदोः स्तुतौ मध्ये स्तुतो वैश्वानरीदिवि॥
रसान् रश्मिभिरादाय वायुनां गतः सह। वधत्येष च यल्लोके तेनेन्द्र इति स स्मृतिः॥
अग्निरस्मिन्नथेन्द्रस्तु मद्यमो वायुरेव च। सूर्यो दिवीति विज्ञेयास्तिस्त्र एवेह देवता॥

—बृहद्देवता

निधि (खजाना) रक्षण में पटु है, राजा भी उसी प्रकार कोषादि का रक्षक है। जैसे चन्द्र पूर्णचन्द्र हुए बिना शोभित नहीं होता, वैसे ही विपुल कोष हुए बिना राजा शोभित नहीं होता।[1] इसलिए भूपति का इन्द्रादि देवगण से साधर्म्य है। साधर्म्य-वैधर्म्य विचारणा द्वारा ही पदार्थ तत्व निर्णीत होता है। राजा में जो सब धर्म अथवा शक्ति का अस्तित्व प्रतीत होता है, उसका भी निश्चित कोई कारण है। इसलिए राजा भावविकार अथवा कार्यात्मभाव है। स्थूल का सूक्ष्म है। व्याप्य का व्यापक है। बाह्य का आन्तर भाव है। इन्द्रादि देवगण भी शक्ति ही हैं। अन्य पदार्थ नहीं है। अतः राजा को इन्द्रादि देवगण के सारांश से सृष्ट मानने में कोई दोष नहीं है।

शुक्राचार्य कहते हैं कि राजा में पितृत्व-मातृत्व-गुरुत्व-भ्रातृत्व-धनपतित्व (वैश्रवणत्व) तथा यमत्व (दण्डधरत्व) रूपी सप्तगुण रहते हैं। इन गुणों के अभाव में राजा कभी भी प्रजा का रंजक नहीं हो सकता। पिता जैसे अपनी सन्तति के गुण साधन, गुणोपार्जन में दक्ष होता है, सम्यक्तत्पर होता है, राजा भी उसी प्रकार अपनी प्रजा के गुणोपार्जन में सुदक्ष, सम्यक्तत्पर होता है। अतः राजा में निःसंदिग्ध रूप से पितृधर्म है। माता जैसे पुष्टिविधायिनी है, अपराधसमूह को क्षमा कर देती है, राजा भी उसी प्रकार प्रजा का पोषक है। उसी प्रकार क्षमावान् है। आचार्य जिस प्रकार शिष्य को सुविधा तथा हितोपदेश प्रदान करते हैं, राजा भी उसी प्रकार प्रजा के लिए विद्या तथा हितोपदेश का उपाय करता है। जैसे भ्राता पिता की सम्पत्ति से अपना भाग लेता है, उसी प्रकार राजा भी प्रजा से अपना भाग ले लेता है। राजा धनद है, अतः बहु वैश्रवण अथवा कुबेर के समान है। राजा यथान्याय दण्ड-विधान करता है अतएव यम के समान है। वास्तविक धार्मिक अभ्युदयशाली राजा में अच्छे राजा के समान पितृत्वादि सद्गुण रहते हैं।

बृहस्पति कहते हैं कि प्रजागण जो धर्माचरण करते हैं, राजा ही उसका मूल है, क्योंकि राजभय से वह आपस में हिंसा नहीं कर पाते। चन्द्र, सूर्य के न उगने पर जैसे जीवन घोर अन्धकार में डूब जाता है, उसी प्रकार राजाविहीन प्रजागण भी घोर अन्धकाराच्छन्न हो जाते हैं। जिसके अवस्थान करने से ही सब शान्ति से रहते हैं,

---

1. जङ्गमस्थावराणाञ्च हीशः स्वतपसा भवेत्। भागभाग्रक्षणे दक्षो यथेन्द्रो नृपतिस्तथा।
वायुर्गन्धस्य सद सत्कर्मणः प्रेरकोनृपः। धर्मप्रवर्त्तकोऽधर्मनाशकत्ससमो रविः॥
दुष्कर्मदण्डको राजा रक्षार्थे सर्वभागभुक्। पुष्यत्यपां रसैःसर्व तरुणः स्वधनैर्नृपः।
करैश्चन्द्रो ल्हादयति राजा स्वगुणकर्मभिः। कोषानां रक्षणे दक्षः स्यान्निवीणां धनाधिपः।

—*शुक्रनीतिसार*

पितामाता गुरुर्भ्राता बन्धुवैश्रवणो यमः। नित्यं सप्तगुणैरेषां युक्तो राजा न चान्यथा॥
गुणसाधन संदक्षः स्वप्रजायाः पिता यथा। क्षमयित्र्यपराधानां माता पुष्टि विधायिनी॥
हितोपदेष्टा शिष्यस्य सुविद्याध्यापको गुरुः। स्वभागोद्धारकृद्भ्राता यथाशास्त्रं पितुर्धनात्॥
आत्मस्त्रीधनगुह्यानां गोप्ता बन्धुस्तु मित्रवत्। धनदस्तु कुबेर स्याद् यमः स्याच्च सुदण्डकृत्॥
प्रवृद्धिमति साराज्ञि निवसन्ति गुणा अमी। एते सप्तगुणा राज्ञा न हातव्याः कदाचनः

—*शुक्रनीतिसार*

ऐसे राजा की पूजा कौन नहीं करेगा? जो ऐसे राजा की अनिष्ट-कामना करता है, वह इस लोक में तथा परलोक में क्लेश का भागी होता है। भूपति की अवमानना कदापि नहीं करनी चाहिए।

"राजा की पूजा देवता के अनुसार करना उचित है" पाश्चात्य विद्वान् इस वाक्य को सुनकर शास्त्रकारगण को अर्द्धसभ्य कहते हैं, क्योंकि स्पेन्सर आदि विद्वानों का यही मत है।[1] जो यह कहते हैं कि ईश्वर तथा देवता के अस्तित्व में विश्वास मानव की अर्द्धसभ्यावस्था में होता है, उनका कथन विस्मयजनक नहीं है। अब जिज्ञासा होती है कि संसार में कोई एक पुरुष राजा होता है, सांसारिक सुखैश्वर्य लोलुप व्यक्ति-मात्र के लिए आकांक्षित राज-सिंहासन पर वह आसीन हो जाता है। समान बलशाली मानवों में से कोई एक व्यक्ति ही सबकी अपेक्षा प्रबल क्यों हो जाता है? यह भी नहीं कहा जा सकता कि अन्य लोगों को वैराग्य हो जाता है और एक व्यक्ति राजा बन जाता है! यदि ऐसा ही सम्भव होता तब यह प्रश्न उठता है कि इतने लोगों के वैराग्य का फल एक ही व्यक्ति को क्यों मिलता है? यही प्रश्न युधिष्ठिर ने महामति भीष्म से किया था। उत्तर में भीष्म कहते हैं कि लोग धर्म का अनुष्ठान करने से राजा होते हैं। राजा ही सकल लोक को धारण करते हैं। यदि राजा धर्माचरण करता है, तब देवत्व, यदि अधर्माचरण करता है तब नरक मिलना अवश्यम्भावी है। प्राणीगण धर्म में अवस्थान करते हैं और राजा में धर्म अवस्थान करता है। जो राजा धर्म की उत्तमरूप से रक्षा करते हैं, वे पृथिवीपति होते हैं। जो राजा श्रीमान् तथा परमधर्मशील है, लोग उसे ही धर्म कहते हैं।[2]

शास्त्र-पाठ से ज्ञात होता है कि देवगण भी जीव पदवाच्य हैं। जीव के सम्बन्ध में पहले विवेचना की गई है। गुणत्रय के तारतम्य से जीव की भी उच्चावच अवस्था होती है। कर्म ही तारतम्य का कारण है। जगत् वैचित्र्यमय है। संसार में कोई सुखी, कोई दु:खी, कोई धनी, कोई निर्धन, कोई राजा, कोई प्रजा, कोई सत्, कोई असत्, कोई विद्वान्, कोई मूर्ख है। एक प्रकार से जिधर भी नेत्रों को प्रेरित किया जाये, वहीं जगत् की वैचित्र्यमयी मूर्ति नयनगोचर होती है। कार्य का कारणानुसंधान मानव का स्वत:सिद्ध इतरजीव व्यावर्तक धर्म है। बिना कारण कोई कार्य संघटित नहीं होता। अतएव सृष्टि की विचित्रता का कोई कारण अवश्य है।

---

1. All the same time there has been arising a co-ordinate specise of government that of religion. As all ancient records and traditions prove, the earliest rulers are regarded as divine persons.
—*Essays* by H. Spencer, Vol. I, Page 13

2. तुल्यबाहुबलानां च तुल्यानां च गुणैरपि। कत स्यादधिक: कश्चित् स च भुञ्जीत मानवान्॥
धर्माय राजा भवति न कांमकरणाय तु। मान्धातरिति जानीहि राजा लोकस्य रक्षिता॥
राजा चरति चेद्धर्म देवत्वायैव कल्प्यते। स चेद्धर्मन चरति नरकायैव गच्छति॥
धर्मे तिष्ठति भूतानि धर्मो राजनि तिष्ठति। राजा परमधर्मात्मा लक्ष्मीवान् धर्म उच्यते।
—*महाभारत,* शान्तिपर्व, अध्याय 90

पाश्चात्य विद्वानों में जो प्राकृतिक निर्वाचन (Natural Section) को सभी प्राकृतिक परिणाम के कारण रूप में अवधारित करते हैं, तनिक चिन्तन से यह प्रतिपन्न होगा कि यदि धर्माधर्म अथवा सदसत् कर्म स्वीकार न किया जाये, तब प्राकृतिक निर्वाचन की कोई अर्थोपलब्धि नहीं होगी। इसलिए सर्वकर्मफलाध्यक्ष परमेश्वर जीवगण के कर्म के अनुसार उनको उच्चावच अवस्था में स्थापित करता है, हमारे मत से यही मत समीचीन है। प्रकृति अथवा शक्ति एवं नियम को जो लोग सर्वकार्य का कारण मानते हैं, शक्ति के परिच्छेद तारतम्य को जो सृष्टि-वैचित्र्य हेतु-रूप स्वीकार करते हैं, जो कार्यकारण सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं, जिनका मत है कि कर्म अथवा शक्ति का नाश नहीं होता, वे ईश्वर के अस्तित्व का प्रत्याख्यान क्यों करेंगे? वे अदृष्टवाद के पक्षपाती क्यों नहीं होंगे? जो भी हो, राजा अपने कर्मानुसार राजा होता है। मनुष्य किसी को राजा नहीं बना सकता। कर्म ही राजा बना सकता है।

राजा में देवता-ज्ञान न होने से, प्रकृत राजभक्ति नहीं हो सकती। सेवार्थक 'भज्' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय करने से भक्ति तथा 'श्रत' पूर्वक 'धा' धातु के उत्तर में 'अङ्' प्रत्यय करने से श्रद्धापद निष्पन्न होता है। कर्त्तृभिन्न कारक में तथा भाववाच्य धातु के उत्तर में 'क्तिन्' प्रत्यय रहता है। सिद्ध 'भज्' धातु के उत्तर में 'क्तिन्' प्रत्यय करके भक्ति शब्द अर्थात् भजन किया जाये, सेवा करी जाय, अन्तःकरण को भजनीय पदार्थ के आकार में तद्भाव में आकारित अथवा भावित किया जाये जिसके द्वारा, इस अर्थ का वाचक है भक्ति शब्द। 'भज्' धातु के उत्तर में 'क्तिन' प्रत्यय करके सिद्ध भक्ति शब्द जिसे भजन अथवा सेवा किया जाये, भजन अथवा सेवा के जो आश्रय हैं, इस अर्थ का बोधक है। इसमें भजन का भाव, भजनीय पदार्थ के प्रति अनुराग, तदेकाग्र चित्तवृत्ति, भजनीय पदार्थ के प्रति अन्तःकरण का अविच्छिन्न प्रेम-प्रवाह, भगवदाकाररूपा सविकल्प वृत्ति, इस अर्थ का वाचक है।[1] महर्षि नारद कहते हैं कि भगवान् के प्रति परम प्रेमभाव है भक्ति।[2] भगवान् यास्क 'वट्', 'श्रत्', सत्रा, अद्धा, इत्थों तथा ऋत् रूप से सत्य के छः नाम का निर्वाचन करते हैं। श्रत सत्य का प्रतिपद (Synonim) है। श्रत् अर्थात् सत्य जिसमें धृत हो, सत्य जिसके द्वारा पाया जाये, वह है श्रद्धा। निघण्टु निर्वचन में कहते हैं—जिसमें सत्य धृत हो, सत्य का जो आश्रय अधिष्ठान है अर्थात् बुद्धि आदि देवता। श्रद्धा की यह निरुक्ति है। श्रुति का भी कथन है प्रजापति अनृत अथवा मिथ्या में अश्रद्धा को तथा सत्य को श्रद्धा में प्रतिष्ठापित करता है।[3] शुक्लयजुर्वेद के

1. भजनमन्तःकरणस्य भगवदाकारतारूपं भक्तिरिति, भावव्युत्पत्या फलभूता भक्तिरभिधीयते
—ब्रह्मानन्दकृत *हठयोग प्रदीप टीका*
द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवताकारतारूपा सविकल्पवृत्तिर्भक्तिरिति—मधुसूदन सरस्वती
2. ॐ सा कस्मै परमप्रेमरूपा —नारदकृत *भक्तिसूत्र*
3. अश्रद्धामनृते दधातन श्रद्धा सतो प्रजापतिः। बुद्ध्यादिदेवता श्रद्धा। —*निघण्टु निर्वचन*

भाष्य में महीधर कहते हैं कि आस्तिक्य बुद्धि ही, पुण्यवानों की मनोवृत्ति विशेष ही, श्रद्धा है।[1]

अतिमात्र अनुराग है भक्ति। जिसके प्रति जिनका अतिमात्र अनुराग है, वे उसकी पूजा किये बिना नहीं रह सकते। अतिमात्र अनुराग अथवा भक्ति का फल है पूजा। विद्वान् Martineau भी ऐसा ही कहते हैं।[2]

अनुराग (Attraction) का कारण क्या है? पतंजलिदेव कहते हैं कि जो सुख हेतु है, जिससे जो सुख पाता है, उसका उसके प्रति अनुराग (Attraction) हो जाता है। आत्मा की अबाधित अवस्था है सुख। अतएव कहा जा सकता है कि जिससे हमारी आत्मा की बाधितावस्था दूर हो जाती है उसके प्रति हमारा अनुराग होता है। इसलिए भूमा ही वास्तव में सुख दे सकने में समर्थ है। स्वल्प अथवा परिच्छिन्न कभी भी सुख नहीं दे सकता। इसलिए व्याप्य व्यापक का आश्रय करता है। स्वल्प में भूमा है। व्याप्य में व्यापक है। विशेष में सामान्य है। अंग में अंगी है। जगत् में जितने भावविकार हैं, सभी एक कारण से परमकारण से उत्पन्न हैं। सभी कार्यपदार्थ उसके कारण से आकृष्ट होकर अवस्थान करते हैं। जो जिसका विकार है, उसके प्रति उसका अनुराग है। उसके प्रति उसका आकर्षण स्वाभाविक नियम से होता है।

परमात्मा सर्वकार्य के परम कारण, परम व्यापक हैं, अतः परमात्मा ही अखण्ड परमात्मा भूमा हैं। वे ही सकल पदार्थ द्वारा परम भजनीय हैं। परमात्मा से भिन्न पदार्थ में जो अनुराग है, वह आपेक्षिक है। वह गौण होने के कारण परिच्छिन्न है। तत्त्वज्ञ लोग अद्वय, अनन्त, अपरिच्छिन्न अविनश्वर ज्ञान को तत्व कहते हैं। इसी को औपनिषदगण ब्रह्म कहते हैं। इसे ही हैरण्यगर्भगण परमात्मा कहते हैं और भगवद्भक्तगण भगवान् कहते हैं।[3] इसलिए कहा जा सकता है कि भगवान् भक्ति के कारण हैं। वे ही भक्ति के केन्द्र हैं। अव्यभिचारिणी भक्ति का भगवान् से भिन्न अन्य कोई आधार नहीं हो सकता। पिता को ईश्वर-दृष्टि से न देख पाने से पितृभक्ति नहीं होती। माता को ईश्वरी न समझ सकने पर मातृभक्ति नहीं हो सकती। जो गुरु को साक्षात् भगवान् नहीं कह सकता, वह गुरुभक्ति क्या करेगा? इसी प्रकार राजा में देवबोध न होने से राजभक्ति नहीं होती। जिसको छोड़ देने पर जिसका अस्तित्व शून्य हो जाता है, फलत जिसकी सत्ता से ही जिसकी सत्ता है, जिसका ज्ञान ही जिसका ज्ञान है, जिसका आनन्द ही जिसका आनन्द है, उसे

---

1. श्रत्सत्यं धीयते यस्यां सा श्रद्धा आस्तिक्यबुद्धिः पुण्यवतां मनोविशेष —*शुक्लयजुर्वेद भाष्य*
2. These intense affections, rich in elements of wonder admiration reverence, culminate in worship.
   — *The Study of Religion* by J. Martineau, Vol. I, Page 3
3. वदन्ति तत्वविदस्तत्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
   ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते। —*श्रीमद्भागवत,* प्रथम स्कंध, अध्याय-2
   मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। —*तैत्तरीयोपनिषद्*

तत्स्वरूप कहना ही विज्ञान है। पिता, आचार्य अतिथि के प्रति देवता ज्ञान करे। शास्त्र इसीलिए कहता है कि राजा को देवता माने, साधारण मानव न माने।

भगवान् की ही शक्ति पृथिवी-पालनार्थ पृथ्वी में भूपति रूप से अवतीर्ण होती है। क्या यह बात अर्द्धसभ्योचित है? क्या यह विज्ञानविरुद्ध है? शक्ति कदापि शक्तिमान से अलग नहीं है। इसीलिए शास्त्र ने राजा की देवता ज्ञान से पूजा की है। भक्तिशास्त्र को पढ़ने से विदित होता है कि भक्ति का भगवान् से भिन्न कोई आधार नहीं हो सकता। इसी कारण भक्तिशास्त्र श्रद्धा को भक्ति से स्वतन्त्र पदार्थ रूप से परिगणित करता है।[1]

स्वीय (अपनी) सुकृति के कारण, जन्मान्तर के पुण्यातिशय के कारण, राजा राजपद पर प्रतिष्ठित होता है। इसी शास्त्रोपदेश पर आस्था नहीं है, तभी वैदिक आर्य जाति को बर्बर अर्धसभ्य मानने से सैकड़ों-हजारों अवज्ञात प्रजा के अतिरिक्त अन्य किसी जाति की प्रजा के पास राजा निर्भय नहीं रह सकता। प्रजा से ही राजा का अनिष्ट होता है। प्रजा ही राजा की हत्या करती है। अन्य देशों में ऐसा अधिकतर सुनने में आता है। किन्तु इतिहास का अध्ययन करने से ज्ञात होगा कि राजा को देवता मानने वाली अर्द्धसभ्य कही जाने वाली आर्यजाति की प्रजा में ऐसा नहीं पाया जाता कि उसने राजा की हत्या की हो। अत: राजभक्ति किसे कहते हैं, कैसे राजा से भक्ति करना होता है, यह वैदिक आर्यजाति को ही ज्ञात है। वैदिक आर्यजाति की प्रजा से ही राजा का जीवन शंकाशून्य (निर्भय) रहता था।

राजा को वेदभक्त आर्यजाति किस दृष्टि से देखती है, राजा में कैसी भक्ति करती है, राजा के प्रति इनका कैसा अनुराग था, यह जानने के लिए ऋग्वेद संहिता के अष्टमाष्टक के दशम मण्डल का 173वाँ सूक्त अथवा अथर्ववेद के षष्ठ काण्ड के नवम अध्याय का 87वाँ सूक्त द्रष्टव्य है—

"हे राजन्! हम तुमको अपने राष्ट्र के स्वामी-रूप से आनयन करते हैं, अत: तुम हमारे स्वामी हो जाओ, तुम ध्रुव होकर नित्य भाव से अचलवत् हमारे राज्य में अधिष्ठित हो जाओ। समस्त प्रजा 'ये ही हमारे स्वामी हैं', इस प्रकार से तुम्हारी कामना करे। तुम्हारे प्रति अनुरागयुक्त हो जाये, तुम्हारे साथ से यह राज्य कभी वियुक्त न हो।"

"हे राजन्! इस राज्य में तुम सर्वदा स्वामी-रूप से रहो। जैसे पर्वत निश्चल है, चलनरहित होता है, जैसे इन्द्र अपने स्वर्गधाम में स्थिरत: अवस्थान करता है, तुम भी वैसे ही राष्ट्र में स्थिरत: विद्यमान रहो। तुम्हारा प्रभुत्व इस राज्य को धारण करे।"

---

1. नैवश्रद्धा साधारण्यात् —*शाण्डिल्य सूत्र*
2. भक्ति तथा श्रद्धा समानार्थक नहीं है। श्रद्धा के साधारण्य के कारण, कर्ममात्रांगत्व के कारण यह सर्वथा भक्तिरूप भगवत् परानुरक्ति के समान नहीं हो सकती। भगवान् में परानुरक्ति ही भक्ति है।

"द्युलोक में जैसे ध्रुव है, पृथ्वी जैसे ध्रुव है, स्थिर है, दृश्यमान महीधर कुल जैसे ध्रुव है, द्यावा पृथ्वी के मध्य वर्तमान जगत् जैसे ध्रुव है, वैसे ही इस सभी प्रजा के स्वामी होकर तुम भी ध्रुव स्थिर हो जाओ।"

"हे राजन्! राजमान ईश्वर वरुण तुम्हारे राज्य को स्थिरतः, दृढ़तः धारण करें। देव (द्योतमान), बृहस्पति तुम्हारे राज्य को दृढ़ता से धारण करें, इन्द्र तथा अग्नि तुम्हारे राज्य का स्थैर्य सम्पादन करें।"[1]

वरुण, बृहस्पति, इन्द्र तथा अग्नि कौन पदार्थ हैं, यह जाने बिना यह उपलब्धि नहीं होती कि राज्य के स्थैर्य-सम्पादन में इनका क्या प्रभुत्व है? वरुणादि उपरोक्त देवता वास्तव में सत् पदार्थ हैं। इनका कौन क्रियाकारित्व है, ये कल्पना विजृम्भित, असभ्यतामूलक विश्वास प्रसूत पदार्थ नहीं हैं, इसका प्रतिपादन अब दुसाध्य व्यापार है। वरुणादि परमेश्वर की शक्तियों के वाचक हैं। वास्तव में ये सब परमेश्वर से अभिन्न पदार्थरूप हैं। ये कभी-कभी तो सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक परमेश्वर-रूपेण ही स्तुत होते हैं, कभी-कभी भिन्न-भिन्न शक्तिरूपेण वर्णित होते हैं।

ऋग्वेद में कहा है—"हे मेधाविन् वरुण! तुम द्युलोक में तथा अखिल जगत् में विद्यमान हो, तुम विश्व जगत् के राजा हो।"[2] हम तुम्हारी रक्षा करें तुम हमें ऐसा प्रभुत्व प्रदान करो।[3] हे शत्रुपेक्षक वरुण! तुम ही देवगण तथा मरणधर्मा मनुष्यगण के राजा हो।[4] ऋग्वेद में वरुण को अखिल प्रकृति नियम अथवा व्रत को पर्वतवत् स्थिर रखने वाला माना है। आश्रय, धृतव्रत, सुनीति व्यवस्थापक प्रभु (Chief of the Lords of Natural or Moral Order) है, पाप-पुण्य का साक्षी, फलदाता तथा सर्वज्ञ है।[5]

ऋग्वेद में धृतव्रत वरुण के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है। धृत होता है व्रत जिससे, वह है धृतव्रत।[6] भगवान् यास्क व्रत शब्द का अर्थ कर्म बताते हैं। आवरणार्थक 'वृ' धातु के उत्तर में 'कित्' प्रत्यय करने से व्रतपद सिद्ध हो जाता है। शुभाशुभ कर्ममात्र ही कर्त्ता में निबद्ध है। वह संस्काररूप में संलग्न रहता है, अतः कर्म ही व्रत है।

भगवान् यास्क कहते हैं कि व्रत शब्द के कर्म सामान्य का वाचक होने पर भी वेद ने प्रधानतः शुभकर्म के लिए इसका व्यवहार किया है। जो प्रमादवशतः अनिष्ट कर्म में प्रवर्त्तमान पुरुष का निवारण (Resist) करे, जो शुभ तथा इष्टकर्म का प्रवर्त्तन करे, वही व्रत है। आत्मा अथवा परमेश्वर ही पुरुष को अशुभ कर्म से

1. *ऋग्वेद संहिता* 8/12/175
2. वही, 1/25/20 तथा इसका सायण भाष्य
3. वही 2/27/10
4. *ऋग्वेद संहिता* 2/28/87
5. वही 1/25/10
6. वही 1/25/7

निवारित तथा शुभकर्म में प्रवर्त्तित करता है। सद्-असद् विवेक शक्ति का सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान परमेश्वर ही प्रसूति तथा आश्रय है। वरुण को (यह वरुण शब्द परमेश्वर का ही नामान्तर है) इसीलिए धृतव्रत कहा है।[1]

वरुण शब्द वरणार्थक 'वृ' 'वृञ्वरणे'[2] प्रत्यय से निष्पन्न है। निघण्टु निर्वाचनकार देवराज कहते हैं कि जो अन्तरिक्ष को उदक से आवृत्त करे वह है वरुण। ऋग्वेद संहिता के चतुर्थाष्टक के चतुर्थ अध्याय के त्रिंशद्वर्ग में उक्त है कि अखिल भुवन के राजा वरुण तीनों लोक के हितार्थ मेघ के विदारण द्वारा उदक (जल) को अधोमुख करते हैं।

बृहद्देवता में कहा गया है कि त्रिलोक को जो शक्ति मूर्त्त रस द्वारा आवरित करती है, वह है वरुण।[3] ऋग्वेद में भी कहा गया है कि पूतदक्ष पवित्र बल मित्र तथा शत्रु संहारक वरुण जलयोनि हैं। उदक की उत्पत्ति हेतु हैं।[4] वेद ने अनेक स्थान पर मित्र तथा वरुण देवताद्वय का अन्योन्यसम्बन्ध रूप से स्तव किया है। सायणाचार्य मित्र को दिनाधिपति तथा वरुण को रात्रि का अधिपति कहते हैं। हमारा विश्वास है कि मित्र सूर्य (अग्नि) के तथा वरुण सोम के वाचक हैं। अग्नि तथा सोम का विवरण पहले विवेचित है। ये दोनों ही अन्योन्य मिथुनवृत्तिक हैं, ऐसा गोपथ ब्राह्मण में कहा है।[5]

---

1. "व्रतामिति कर्म नाम—वृणोतीति सत इत्यादि...। तद्वद्विविधम्। शुभमशुभं वा वृणोति निबध्नाति कर्त्तारम्।" —*निघण्टु निर्वचन*
"व्रतमिति कर्मनाम वृणोतीति सत् इदमपीतर व्रतमेतस्मादेव निवृत्तिकर्म वारयतीति सतोहुन्नमपि व्रतमुच्यते यदावृणोति शरीरम्" —*निरुक्त*
अर्थात् व्रत कर्म मात्र का वाचक नहीं है। विषयसमूह में प्रवर्तमान पुरुष का जो निवारण करे, वह व्रत है। रस-शोणित-मांस-मेद-मज्जा तथा अस्थि भाव से विपरिणममान अन्न का तथा शरीर का जो आवरण करे, वह है व्रत।
2. "वृञ्वरणे कुवृदारिभ्य उनन अन्तरिक्षे उदकमावृणोति" —*निघण्टु निर्वचन*
"नीचीन वारं वरुणं कबन्धं प्रससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम्। तेन विश्वस्यभुवनस्य राजा यवं न वृष्टिर्व्युनत्ति भूम"। —*ऋग्वेद संहिता 4/4/30*
3. त्रीणीमान्यावणोत्येको मूर्त्तेन तुरसेन यत्।
तयैनं वरुणं शक्त्या स्तुतिष्वाहुः कृपण्यवः। —बृहद्देवता, अध्याय 2
4. "मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च दिशादशम्। धियं घृताचीं साधन्ता"—ऋग्वेद संहिता 1/2/7
कोई आधुनिक वैदिक गण इस मन्त्र की सहायता से यह कहते हैं कि जल का उपादान ऑक्सीजन तथा हाइड्रोजन है। ऋषिगण इनके अस्तित्व को जानते थे।
5. "उष्णमेव सविता, शीतं सावित्री यत्र ह्येवोष्णं तच्छीतं यत्र वै शीतं तदुष्णमित्येते द्वे योनि एक मिथुनम्।" —गोपथ ब्राह्मण
अर्थात् उष्ण (अग्नि), सविता-पुंशक्ति है। शीत (सोम) ही सावित्री है। स्त्री शक्ति है। उष्ण कभी भी शीत अर्थात् सोम विरहित नहीं रहता। ऐसी ही हालत है कि शीत कदापि उष्ण से विरहित नहीं रह सकता। आणविक आकर्षण तथा विप्रकर्षण यथाक्रमेण सोम तथा अग्नि के ही कार्य हैं। आकर्षण-विप्रकर्षण एक मिथुन हैं।

ऋग्वेद संहिता के तृतीयाष्टक के 27वें सूक्त में कहा है कि वामदेव ने गर्भ में रहते ही कहा था कि मैं इन्द्रादि देवों के अखिल जन्म वृत्तान्त से आनुपूर्वतः विदित हूँ। मैं यह जानता हूँ कि वे सब परमात्मा से ही उत्पन्न हैं।[1] अतः इन्द्रादि देवगण परमात्मा की ही भिन्न-भिन्न शक्ति हैं। यह प्रमाणित होता है।

भगवान् यास्क कहते हैं कि मित्र, वरुण इत्यादि देवगण आदित्य के ही भिन्न-भिन्न नाम हैं। आदित्य कौन पदार्थ है? जो रश्मि द्वारा रस का आकर्षण तथा ग्रहण करते हैं, जो चन्द्रादि ज्योतिष्कमण्डल की ज्योति का हरण करते हैं, अर्थात् जिनके उदय से चन्द्रादि की प्रभा नाश हो जाती है, अथवा जो सर्वतः अपनी प्रभा से दीप्त हैं अथवा जो अदिति के पुत्र हैं, वे आदित्य हैं।[2] अदिति का स्वरूप पहले कहा गया है। अपरिच्छिन्ना शक्ति ही अदिति है। तैत्तरीय आरण्यक में कहा है कि मित्र-वरुण-धाता-अर्यमा-अंश-भग-इन्द्र तथा विवस्वान्, ये आठो अदिति के पुत्र हैं। ऋग्वेद संहिता के द्वितीयाष्टक में भी यही कहा गया है।[3] अतएव मित्र, वरुण इत्यादि देवताओं को जिस कारण से आदित्य कहा है, उसे समझ लिया गया। आत्मपाश का मोचन करने के लिए, परिच्छेद के खण्डनराहित्य के लिए शुनःशेप ने वरुण का स्तव करते समय इनको आदित्य—अदिति का पुत्र कहा है।[4] वरुण ही समाज के प्रतिष्ठापक हैं। वरुण ही सर्वपापनाशक, अनिष्ट निवारक हैं। वे ही निरोध अथवा संयम शक्ति हैं। अतएव वरुण ही हैं धृतव्रत[5]।

---

1. गर्भे तु सन्नण्वेषाम वेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा।
शतं मा पुर आयसीररक्षन्नघश्येनो जवसा निरदीयम् —*ऋग्वेद संहिता* 3/27/1
अनेक की धारणा है कि वेद में पुनर्जन्म की बात नहीं है। पुनर्जन्म में विश्वास वैदिक काल में नहीं है। ऐसी धारणा वालों का वामदेवोक्त इस मन्त्र के अर्थ का चिन्तन करने का अनुरोध किया जाता है।
2. देवानामादित्यप्रवादाः स्तुतयो भवन्ति। तद्यथैतन्मित्रस्य वरुणस्यार्यम्णो दक्षस्य भगस्यां शस्येत्यथापि मित्रावरुणयोः। —*निरुक्त*
आदित्य एव तावत् कस्मात्? इति उच्यते शृणु। आदत्ते ह्यसौ रसान् रश्मिभिरित्यादित्यः। आदत्ते भासं ज्योतिषम् ''तदुदये हि चन्द्रादीनां प्रभानाशो भवत्येव, ग्रहापेक्षमेतत्'' ''आदीप्तो भासेति वा सर्वतोह्येष भासा आदीप्त आवृतो भवति अदितेः पुत्र इति वा'' ''अदितिर्देवमाता तस्याः पुत्रः।'' —*निरुक्त टीका*
3. ''अष्टौ पुत्रासो आदितेः.....मित्रस्य वरुणस्य। धाता चार्यमा च। अंशश्च भगश्च। इन्द्रश्च विवस्वांश्चेत्यति।'' —*तैत्तरीय आरण्यक*
4. ''इमा गिर आदित्येभ्यो घृतश्नुः सनाद्राजभ्यो जुह्वा जुहोमि। शृणोतु मित्रो अर्यमा भगोनस्तु विजातो वरुणो दक्षो अंशुः।'' —*ऋग्वेदसंहिता* 2/27/1
तथा—उदुत्तमं वरुणपाशमस्मादवाधमं विमध्यमं श्रथाय
अथावदमादित्यव्रते तवानागसो अदित्ये स्याम। —*ऋग्वेद संहिता* 1/25/15
5. Varuna regarded as the founder of society united by common religious observances. — R.T.H. Griffith

वरुण देवता के सम्बन्ध में यथाप्रयोजन विचार किया गया। 'देवता तत्व' नामक ग्रन्थ में वैदिक-तांत्रिक-पौराणिक देवताओं के सम्बन्ध में अपने ज्ञानानुसार कुछ कहने की इच्छा है। यहाँ जितना कहा उससे हमारी तृप्ति नहीं हो सकी। राज्य के स्थैर्य के लिए वरुण को जिस कारण से स्मरण किया जाता है, उसे जानना ही यहाँ प्रयोजन था। वरुण-बृहस्पति-इन्द्र तथा अग्नि राज्य की स्थिरता प्रदान करते हैं। हमारी धारणा है कि यह सारगर्भ उपदेश है। 'वरुण' के सम्बन्ध में वेदादिशास्त्र से जो ज्ञान मिला है, उससे यह अबाधित रूप से कहा जा सकता है कि राज्य की स्थिरता के लिए इनका विशेष प्रभुत्व तथा कर्त्तृत्व है। जो प्राकृतिक नियमानुसार प्रभु हैं, जो धर्मनीति-स्थापक स्वामी हैं, जो अनिष्ट-निवारक, समाज-संस्थापक हैं तथा जिनकी राज्य के स्थैर्य सम्पादन में विशेष कार्यकारिता है, वे हैं वरुण। प्रजागण यदि प्राकृतिक नियम ज्ञाता हैं, प्रकृति के नियमानुसार चलने वाले हैं, यदि वे धर्मनीति-परायण हैं, तब राज्य की स्थिरता, राजा का अभ्युदय होता है तथा राज्यलक्ष्मी अचंचला हो जाती है।

बृहत् अथवा वेद के, ज्ञान तथा यज्ञ के जो पति हैं, पालयिता हैं, जो वाचस्पति हैं, अतः देवपुरोहित हैं, देवमंत्री हैं, वे हैं बृहस्पति। महर्षि शौनक कहते हैं कि बृहत्, मध्यम अथवा उत्तम लोकों की रक्षा करने वाले हैं बृहस्पति।[1] ऋग्वेद के अनुसार देदीप्यमान आदित्य के परम (निरतिशय) व्योम में बृहस्पति प्रथमतः आविर्भूत हुए। बृहस्पति सप्तास्य हैं। गायत्र्यादिसप्त छन्दोमय मुख वाले हैं। ये शब्द द्वारा बहुधा हो गये। विसर्पण स्वभाव सप्तरश्मि अथवा तेजोयुक्त बृहस्पति अखिल तमः (अन्धकार) का नाश करते हैं।[2] इस मन्त्र में वेद कौन पदार्थ है, किस प्रकार से वेदाविर्भाव होता है, ज्ञान का स्वरूप क्या है इत्यादि परिज्ञेय तत्व का प्रकृत उत्तर सन्निहित है। निरुक्त में इन्द्र शब्द की जिस प्रकार से निरुक्ति की गयी है, वह अनेक प्रकार से इन्द्र का प्रतिपादन करती है। वेद ने इन्द्र शब्द का बल-प्राण-अन्नदाता-जीवात्मा-लोकपाल-शत्रुनाशक-परमात्मा इत्यादि अनेक अर्थ में प्रयोग किया है।

श्रुति ने अग्नि को देवसेनानी कहा है।[3] राज्य संस्थान तथा राज्य की उन्नति तथा स्थैर्य के लिए वरुणादि देवता ही प्रयुक्त किये गये हैं। तब भी जो प्रतिभा स्थूल

---

1. "वृहन्तौ पाति यल्लोकावेषः द्वौ मध्यमोत्तमौ। बृहता कर्मणा तेन बृहस्पतिरितीरितः"- बृहद्देवता, द्वितीय अध्याय। सायणाचार्य का कथन है कि "यो बृहस्पतिः बृहतो वेदस्य यज्ञस्य वा पालयिता देवः।" —*ऋक्संहिता भाष्य*
2. "बृहस्पति प्रथमं जायमानो महोज्योतिषः परमे व्योमन्। सप्तास्यस्तु विजातो रवेण विसप्तरश्मिरधमत्तमांसि।" —*ऋक्संहिता, 3/50/4*
3. निरुक्त तथा बृहद्देवता से ज्ञात होता है कि इन्द्र, वायु, सूर्य ये पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग के कारण पृथक्-पृथक् नाम से अभिहित होते हैं और भिन्नतः स्तुत होते हैं। "त्रिस्त्र एव देवता इति नैरुक्ता अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्यद्युस्थानस्तासां महाभाग्यादैकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्त्यपि वा कर्म पृथकत्वात्।" —*निरुक्त*

प्रत्यक्षगम्य पदार्थ के अतिरिक्त पदार्थान्तर के अस्तित्व को मानना असभ्योचित तथा विज्ञान से अननुमोदित कहती है, ऐसी प्रतिभा वाले विद्वान् कभी भी वरुणादि देवगण को वास्तव सत्ता मानने में समर्थ नहीं हो सकते। राज्य के स्थैर्य सम्पादन में वरुणादि का प्रभुत्व है, ऐसे वाक्य उनको स्वल्पज्ञान तथा असभ्योचित वाक्य प्रतीत होने के कारण अग्राह्य होंगे।

इन्द्रादि देवगण के अस्तित्व में विश्वास-स्थापन न करने का हेतु क्या है? इस प्रश्न का समाधान करने से पूर्व यह स्मरण रखना होगा कि विश्वास-स्थापन का कारण क्या है? वेदादिशास्त्र-पाठ से विदित होगा कि सत्य ही श्रद्धा का आश्रय है। जो सत्य है, उसी में लोगों की श्रद्धा होती है। अनृत तथा मिथ्या विषय में श्रद्धा नहीं होती। संसार में ऐसे पुरुष किसी को नहीं मिलते जो पूर्णतः श्रद्धाविहीन हों। जिनको कोई विश्वास ही न हो। जो इन्द्रादि के अस्तित्व को नहीं मानते, जो इन्द्रियगम्य पदार्थों के अतिरिक्त अन्य (अतीन्द्रिय) पदार्थ की सत्ता में विश्वास स्थापित नहीं करते, क्या वे श्रद्धा-विश्वासहीन हैं? इन्द्रादि देवगण के नास्तित्व में क्या उनकी श्रद्धा नहीं है। (नास्तिक की भी नास्तिकवाद में श्रद्धा रहती है, अतः वह श्रद्धा-विहीन नहीं है)। अतएव कोई भी पुरुष श्रद्धाविहीन नहीं है। श्रुति कहती है कि अनृत तथा मिथ्या को अश्रद्धा रूप से और ऋत् अथवा सत्य को श्रद्धारूप से प्रजापति ने निर्दिष्ट किया है। मनुष्य-मात्र की किसी न किसी विषय में श्रद्धा तथा किसी न किसी विषय में अश्रद्धा रहती है। यह भी हमारा परीक्षासिद्ध तथ्य है कि प्रत्येक व्यक्ति की श्रद्धा-अश्रद्धा में ह्रास-वृद्धि तथा परिवर्तन होता रहता है। एक समय जिसमें श्रद्धा रहती है, समयान्तर में उसमें अश्रद्धा हो जाती है। ऐसे ही जिस विषय के प्रति वह अश्रद्धायुक्त है, कालान्तर में उसी विषय के प्रति श्रद्धायुक्त हो जाता है।

किस उपपत्ति द्वारा सामान्यत त्रित्व परिगृहीत होता है? शुक्लयजुर्वेदसंहिता में कहा है कि ब्रह्माण्ड में देवतिर्यगादि जगत् के भेदकर्त्ता, सत्यलोकवासी चतुर्मुख विश्वकर्मा प्रथमतः आदित्यान्तर पुरुषरूपेण आविर्भूत होते हैं। तदनन्तर पृथिवीधारक अग्नि का आविर्भाव होता है। तदनन्तर औषधि गणोत्पादक पर्जन्य की उत्पत्ति होती है।

विश्वकर्मा ह्यजनिष्ठ देव आदिगन्धर्वो अभवत् द्वितीयः।
तृतीय पिता जनितौषधीनामया गर्भः व्यदधात् पुरुवा॥

—*वाजसनेय संहिता* 17/321

ऋग्वेद संहिता में कहते हैं कि इतर सृष्टि के पहले अप्—विश्व की समन्वित श्रीशक्ति विश्वकर्मा के गर्भ को, गर्भ स्थानीय वीर्य को धारण करती हैं। विश्वकर्मा के गर्भ में इन्द्रादि अखिल देवतागण संगत रहते हैं।

तमिद गर्भ प्रथमं दघ्न आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे......

—*ऋग्वेद संहिता* 8/82/6

अतएव इन्द्रादि देवगण परमेश्वर की ही शक्ति हैं। यह निःसंदिग्ध है। स्थानान्तर पर इस विषय की (यथा ज्ञान) विशद व्याख्या करने की चेष्टा होगी।

अतएव सत्य ही श्रद्धा का आश्रय है। सत्य के अतिरिक्त श्रद्धा कहीं अवस्थान नहीं करती। इस बात को किस प्रकार सत्य माना जाये?

श्रद्धा सत्य के अतिरिक्त अन्यत्र अवस्थान नहीं करती, इसे सत्य कहने से श्रद्धा की ह्रास-वृद्धि तथा परिवर्तन की बात सामने आती है। जिस व्यक्ति की जिस विषय में श्रद्धा उत्पन्न होती है, तब वह उस विषय को सत्य मान लेता है। वह वास्तव में सत्य न होने पर भी उस व्यक्ति के समक्ष सत्यरूप से प्रतिभात हो रहा है। जो अनृत अथवा मिथ्या रूप से विनिश्चित होता है, क्या कभी कोई उसके प्रति श्रद्धावान् हो सकता है? अतः श्रद्धा सत्य के अतिरिक्त कहीं अवस्थान नहीं करती यह सत्य है। शुक्लयजुर्वेदसंहिता का कथन है कि व्रत अथवा कर्म द्वारा दीक्षा-प्राप्ति होती है। व्रत अथवा शास्त्रविहित इष्टकर्म करते-करते योग्यता का विकास होता है। तदनन्तर दक्षिणा अर्थात् कृतकर्म की फल-प्राप्ति होती है। श्रद्धा-विरहित ज्ञान का उदय नहीं हो सकता। छान्दोग्य श्रुति में कहा है कि मनन के बिना विज्ञानोत्पत्ति नहीं होती। इसके अभाव में कोई भी किसी विषय का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। मनन के बिना किसी विषय में ज्ञान नहीं मिलता, किन्तु मनन श्रद्धा के बिना नहीं हो सकता। श्रद्धा का जन्म न होने से आस्तिक्य बुद्धि उदित ही नहीं होती। ऐसी स्थिति में कोई मनन में प्रवृत्त न होता।[1] श्रद्धा कैसे उत्पन्न होती है? निष्ठा ही श्रद्धा की उत्पत्ति का कारण है। निष्ठा किसे कहते हैं? ब्रह्मविज्ञानार्थ गुरु शुश्रूषादि व्रत है निष्ठा। निष्ठा कैसे उत्पन्न होती है? कृति ही, इन्द्रियसंयम ही, चित्तैकाग्र्य ही निष्ठा का कारण है। कृति का निदान क्या है? सुख-प्राप्ति ही कृति का निदान है। सुख न मिलने से कोई स्वेच्छा से कर्म में प्रवृत्ति नहीं करेगा। सुख-प्राप्ति ही कर्म प्रवृत्ति का कारण है। कृति होने से निष्ठा स्वयमेव अभिव्यक्त होती है। निष्ठा का जन्म होने से श्रद्धा का आविर्भाव हो जाता है। श्रद्धा आविर्भूत होने से सत्य स्वयं प्रकटित होता है। उसे जानने के लिए पृथक् यत्न नहीं करना पड़ता। उद्धृत यजुर्वेद मंत्र का यही तात्पर्य है। ऋग्वेद में कहते हैं कि श्रद्धा के कारण गार्हपत्यादि अग्नि सन्दीपित होती है। जब पुरुष में श्रद्धा का आविर्भाव होता है। अग्नि के प्रति आदर का अतिशय हो जाता है, तब पुरुष अग्नि प्रज्ज्वलित करता है।[2] भगवान् पतंजलिदेव कहते हैं कि श्रद्धादि उपाय के द्वारा योगीगण की समाधि होती है।[3] श्रद्धा कौन पदार्थ है, इसको समझाने के लिए भगवान् वेदव्यास कहते हैं[4] कि चित्त का जो सम्प्रसाद है,

---

1. "मदा वै मनुतेऽथ विजानाति नामत्वा विजानाति मत्वैव विजानाति....यदा वै श्रद्धधात्यथ मनुते नाश्रद्धधन् मनुते श्रद्धधदेव मनुते श्रद्धात्वेव विजिज्ञासितव्येति" —*छान्दोग्योपनिषत्*
2. श्रद्धयाग्निः अमिद्धयते श्रद्धया हूयते हविः —*ऋग्वेद संहिता* 8/151/1
3. श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्। —*योगसूत्र*
4. उपाय प्रत्ययो योगिनां भवति। श्रद्धा चेतसः सम्प्रसाद सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति... —*योगसूत्र भाष्य*

तत्वविषयक उत्कट इच्छा है, वही है श्रद्धा। यह कल्याणी जननी के समान योगीगण की रक्षा करती है।

श्रद्धा तो नास्तिकों को भी होती है। जो इन्द्रियों को ही आत्मा मानते हैं, भूत तथा भौतिक शक्ति को ही सब कुछ मानते हैं, ये देवता तथा आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। इनके भी चित्त में सम्प्रसाद रहता है। वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि आत्मा से भिन्न पदार्थ में श्रद्धा होने पर वास्तव में चित्त प्रसन्न नहीं होता। ऐसे पदार्थ के प्रति जो श्रद्धा होती है, वह प्रकृततः असम्प्रसाद है। व्यामोह तथा भ्रान्ति-मूलक है। श्रद्धा देवी कभी भी असत् पदार्थ में स्थिर नहीं रहतीं।

पाश्चात्य विद्वान् हैमिल्टन कहते हैं कि जो तर्क विचारमूलक है, उसे हम जानते हैं। जो आप्तोपदेशमूलक है, उस पर हम विश्वास करते हैं। परन्तु विचार करने पर विदित होता है कि आप्तोपदेश ही ज्ञान की प्रसूति है। तर्कविचार भी तो आप्तोपदेश का ही आश्रय लेकर किया जाता है।[1]

श्रद्धा तथा विश्वास ज्ञान की आद्यावस्था है। श्रद्धा-विश्वास से रहित होने पर जो अभी स्वयं को ज्ञानी-विज्ञानी कहते हैं और आप्तोपदेश को प्रमाण नहीं मानते, उन्हें निरक्षर होकर रहना होगा। शिक्षक कहता है क, ख, ग। शिक्षक की बात शिरोधार्य करके यदि शिष्य बिना तर्क क-ख-ग नहीं कहता, तब क्या वह ज्ञानी-विज्ञानी हो सकेगा? अतः वयः प्राप्त होने पर जब वही शिष्य आप्तोपदेश की अवज्ञा करता है, ज्ञानदाता गुरु की अवज्ञा करता है, तब क्या वह देवताओं के अस्तित्व से अवगत हो सकेगा?

जो भी हो, देवता हैं अथवा नहीं हैं, यह निश्चय से जानने के लिए उस उपाय का अवलम्बन लेकर साधनारत होना पड़ेगा, जिसे शास्त्र ने साक्षात् देवता प्राप्ति के लिए बताया है। यह तय है कि श्रद्धा न होने से उस साधन में भी प्रवृत्ति नहीं होगी।

श्रद्धोत्पत्ति भी प्राग्भवीय शुभ संस्कार से होती है। देवता यदि आकाश कुसुम के समान अलीक पदार्थ होते, तब आर्यजाति स्मरणातीत काल से देवता के अस्तित्व के प्रति कैसे श्रद्धावान् रह सकती थी? विद्वान् स्पेन्सर कहते हैं कि अहितकर रूप से परिगणित पदार्थसमूह में भी हितकरगुण परिलक्षित होता है। भ्रमात्मक विषयों में

---

1. We know what rests on reason, but believe what rests on authority. But reason itself must at last rest on authority, for the original data of reason do not rest on reason, but are necessarily accepted by reason on the authority of what is beyond itself. These data are, therefore, in rigid propriety, beliefs or trusts. Thus it is that in the last resort we must perforce philosphically admit that belief is the primary condition of reason and not reason the ultimate ground of belief.

—*Reid's Works*, Page 760

तथा देखें *Lectures on Metaphysics* by Sir S.W. Hamilton, Page 32

भी सत्य की आत्मा परिलक्षित होती है।[1] अतएव विद्वान् स्पेन्सर की इस बात का स्मरण करते हुए इस बात में मनोनिवेश से क्या क्षति है कि वेदों में वर्णित देवतागण शुद्ध कल्पना की उपज नहीं हैं। प्रत्येक कल्पना के मूल में भी कुछ न कुछ सत्य रहता है। जो सत्यभूमिक नहीं है, वह कभी भी अवस्थान नहीं कर सकता। वेदसमूह विदेशीय ग्रन्थों के समान आधुनिक पदार्थ नहीं हैं। वेद के प्रति जो वैदिक आर्यजाति का विश्वास है, तथा वैदिक आर्यजाति ने इतने समय क्रमविकासाख्य प्राकृतिक नियम के विरुद्ध अपने वेदोक्त देवताओं का अस्तित्व मानने में अचल श्रद्धा का प्रदर्शन किया है, उसका कारण क्या है, इसे सत्य के खोजी को चेष्टायुक्त होकर खोजना चाहिए।

चित्तशुद्धि के अभाव में चित्त की निरोध शक्ति का प्रादुर्भाव तथा निरोध शक्ति का अभिभव नहीं होता। ऐन्द्रियक सुखभोगाकांक्षा की विनिवृत्ति न होने से अतीन्द्रिय पदार्थ के अनुसंधान की प्रवृत्ति नहीं होती। अतीन्द्रिय पदार्थ के अस्तित्व में प्रवृत्ति न होने पर देवता तथा ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं होता।

पहले ही कहा गया है कि इस प्रसंग का उद्देश्य देवता के सम्बन्ध में कथनोपकथन करना नहीं है। देवता के विषय में अब तक जो कहा वह प्रसंग-मात्र है। शास्त्रांकित राजा तथा प्रजा की प्रतिकृति का स्वरूप-दर्शन करने के लिए देवता के विषय में कुछ कहना आवश्यक होने के कारण यह कहना पड़ा। अब प्रस्तावित विषय का अनुकरण किया जा रहा है।

वैदिक आर्यजाति ने राजा को इन्द्रादि दिक्पाल का अंश कहा है। यहाँ तक कि सु राजा को धर्मावतार माना गया है। वैदिक आर्यजाति ने विचारक तथा नृपति, इन दोनों को समान दृष्टि से देखा है। विचारासन तथा धर्मासन वैदिक आर्यगण की दृष्टि में अभिन्न है। विचारगृह तथा धर्ममन्दिर इनके लिए समीप तुल्यमान था। आर्यजाति का परमधर्म है सत्य। आर्यजाति धर्म के अतिरिक्त किसी को भी श्रेष्ठ सुहृद् नहीं मानती। आर्यगण इस विश्वास के साथ जीवनयापन करते थे कि सब यहीं रह जायेगा, कोई द्रव्य साथ नहीं जायेगा। केवल धर्मसुहृद् (धर्मरूपी मित्र) ही साथी रहेगा। आर्यगण इसी विश्वास को दृढ़ रखते थे। यद्यपि वैदिक आर्यजाति भूपति में देवताज्ञान रखती थी, तथापि उनके शास्त्रविगर्हित, मनमाने नियमों का अनुमोदन नहीं करती थी। राजा को प्रजापालनार्थ विधानसंहिता मानना पड़ता था। वेदादिशास्त्रबोधित नियमों का अनुवर्तन करना होता था।

शतपथ ब्राह्मण में कहते हैं कि सृष्टि के पूर्व जगत् के इस रूप में व्याकृत होने के पूर्व केवल एक ब्रह्म थे। तब जात्यादिरहित निर्विशेष अवस्था थी। तदनन्तर

---

1. We too often forget that not only is there a soul of goodness in things evil, but very generally also, a soul of truth in things erroneous. —*First Principles* by H. Spencer, Page 3

अग्नि की सृष्टि करके अग्निरूपापन्न ब्रह्म, ब्राह्मण जात्याभिमान के कारण 'ब्रह्मा' रूप से आख्यात हो गये। किन्तु ब्राह्मणजात्याभिमानी एक ब्रह्मा से ही विश्वराज्य के सृष्टि स्थित्यादि सभी कार्य का निर्वाह न हो सकने से कर्मचिकीर्षात्मा परमेश्वर ने इसीलिए प्रशस्तरूप क्षत्रियजाति भावापन्न होकर इन्द्र-वरुण-सोम-रुद्र-पर्जन्य-यम-मृत्यु तथा ईशानरूप से स्वयं को प्रकटित किया। ये सब क्षत्रिय जातीय देवता हैं। केवल ब्राह्मण तथा क्षत्रिय देवताओं से कार्य न होता देखकर वित्तार्जन कर्म कर्त्तृ देवताओं का भी प्रयोजन होने के कारण वित्तार्जन क्षमकर्म वैश्वदेव देवों की सृष्टि किया। वित्तार्जन प्रायः संहत शक्ति साध्य है। अर्थोपार्जन बहुत लोगों की समवेत चेष्टा से सुसिद्ध होता है। वाणिज्य अकेले-अकेले नहीं होता। वैश्यात्मा परस्परतः मिल-मिल कर कार्य करते हैं। अष्ट वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य इत्यादि गणदेवता वैश्य हैं। इससे भी राजकार्य सम्पूर्ण नहीं हुआ। परिचालक के अभाव से राजकार्य सम्यक्तः अनुष्ठित नहीं हो सका। अतः शूद्र वर्ण की सृष्टि हुई। परमेश्वर ब्राह्मणादि वर्ण चतुष्टय की सृष्टि करने पर सृष्टि-कार्य को पूर्ण नहीं मान सके। उनको तब भी सृष्टि-कार्य असम्पूर्ण प्रतीत होने लगा।

उन्होंने क्षत्रिय को नियामक तथा शासनकर्त्ता अवश्य बनाया, किन्तु क्षत्रिय द्वारा किस नियम से शासन होगा, यह तय हुए बिना शासन-कार्य नियम से निर्वाहित होना असम्भव है। भगवान् ने इसी कारण से धर्म को (Natural and Moral Order) सर्वोपरि नियामक बनाया। सभी स्व-स्व धर्मानुसार कार्य करेंगे, सभी अपने-अपने धर्म के शासनवर्त्ती होकर चलते रहेंगे। धर्म सबका शासक है। सबका नियन्ता है। राजा का भी नियन्ता है। क्या प्रबल है, क्या दुर्बल है, सभी धर्मानुशासन का प्रमाण देते हैं। कैसा कर्म धर्म है? कैसा कर्म करने से स्व-स्व धर्मानुसार कर्म माना जायेगा? परमेश्वर से निःश्वासवत् सहजभाव से आविर्भूत वेद ही धर्माधर्म का प्रमाण है। वेद ही धर्माधर्म का व्यवस्थापक है। वेद की आज्ञा का लंघन करने से अधर्म हो गया। वेद ने ब्राह्मण को जैसा कर्म करने का आदेश दिया है, वही ब्राह्मण का धर्म है। अन्याय जाति के सम्बन्ध में यही जानना होगा।[1]

इसके द्वारा प्रतिपन्न होता है कि ब्राह्मणादि जाति चतुष्टय के अतिरिक्त राज्य-शरीर संगठित नहीं होता। इनके अभाव में राज्यशरीर संगठित नहीं होता, अपितु उसका पोषणादि कार्य निष्पन्न नहीं होता। वस्तुतः धर्म ही सबका राजा है, इसलिए राजा स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता। धर्म ही सबका नियामक है। तैत्तरीय आरण्यक में श्रुति का कथन है कि धर्म ही सबका राजा, सबका नियामक है। धर्म ही विश्वजगत्

---

1. ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकं सन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयोरुपमत्यसृजतु क्षत्रं यान्येतानि देवत्रता त्राणीन्द्रो वरुणः सोम रुद्र पर्जन्यो यस्मो मृत्युरीशान इति...। स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयोरुपमत्यसृजत धर्मं तदेतत् क्षत्रसत् क्षत्रं यद्धर्मस्तस्याद्धर्मात् परं नास्त्यथो अवलीयान वलीयांसमाशंसते धर्मेषा यथा राज्ञैव यो वै स धर्मः....

की प्रतिष्ठा है। आश्रय है। धर्म क्या है, अधर्म क्या है, इसके निर्णयार्थ लोग धर्मनिष्ठ का आश्रय लेते हैं। वास्तविक धार्मिक के समीप जाते हैं। धर्म से पाप का अपनोदन होता है। धर्म में ही अखिल वस्तु प्रतिष्ठित है। धर्मशून्य होने पर कोई भी किसी में भी अवस्थान सामर्थ्य नहीं रह जाता। अतएव धर्म ही यथार्थ है।[1]

क्या धर्म एवं विज्ञान भिन्न पदार्थ हैं? धर्म तथा विज्ञान के स्वरूपावधारण के बिना इस प्रश्न का समाधान नहीं हो सकता। धर्म तथा विज्ञान एक ही पदार्थ हैं, अथवा भिन्न हैं, यह जानने के लिए इन पदार्थद्वय का स्वरूप निरूपणीय है। अवस्थित्यर्थक तुदादिगणीय, आत्मनेपदी अकर्मक 'धृ' धातु के उत्तर में अथवा धारणार्थक उभयपदी सकर्मक 'धृ' धातु के उत्तर में मन् प्रत्यय करने से धर्मपद सिद्ध होता है। 'जो अवस्थान करे' विद्यमान रहे, 'जो धर्मी तथा वस्तु को पकड़े रहे', 'जिसके द्वारा कुछ धृत हो' अथवा पुण्यात्मगण द्वारा जो धृत हो जाये, वह धर्म है। धर्म शब्द की यह निरुक्ति है। मेदिनी तथा अमरकोष में धर्म शब्द से पुण्य, यम, न्याय, स्वभाव, आचार, क्रतु (यज्ञ), अहिंसा, उपनिषत् इत्यादि अर्थ धृत होता है। वेद ऋत् तथा सत्य को ही धर्म कहता है। वेद्य-प्रतिपाद्य धर्म का सत्य ही मूलतत्त्व है। ऋग्वेद का कथन है कि सत्यस्वरूप धर्म के अनेक शरीर हैं। इन सब धर्मशरीर ने निखिल जागतिक पदार्थ को दृढ़ता से धारण किया है। 'सत्यस्वरूप धर्म के अनेक शरीर हैं' इस वेदोपदेश का क्या आशय है?

जो अवस्थान करता है, जो सत् है, वही धर्म है। अतएव कहा जा सकता है कि जगत् में जितने प्रकार के पदार्थ विद्यमान हैं, जगत्धर्म तत् समुदायात्मक है। भूत-भौतिक शक्ति, भौतिक पदार्थ, उद्‌भिद्, जीव, जीवनीशक्ति, मनः, आत्मा, पृथिव्यादि लोकत्रय, देवता इत्यादि जितने पदार्थ हैं, सभी धर्म हैं। भाव अथवा सत्ता कारणात्मक तथा कार्यात्मक भेद से द्विविध है। इस भावद्वय के मध्य कारणात्मक भाव नित्य है, अपरिणामी है। कार्यात्मभाव अनित्य है, परिणामी है। कार्यात्मक भाव त्रिगुणमयी प्रकृति तथा माया का भाव है। यह जन्मादिषड्भावविकारात्मक है। ब्रह्मादिस्थावरान्तभाव कार्यात्म भाव है। वेद कहते हैं, भूत-भविष्यत् तथा वर्तमान कालात्मक जगत् परमात्मा (पुरुष) का मायिक रूप है। उसकी महिमा त्रैकालिक भूत समुदायात्मक जगत्, उसका एकपाद-मात्र है। परमात्मा के और भी तीन पाद (अवस्था) हैं। उक्त पादत्रय अमृत स्वरूप है। परमात्मा का यही पादत्रय स्वप्रकाश-रूप से अवस्थित है।[2] अतः पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, इन लोकत्रय में जितने भी पदार्थ विद्यमान हैं, जिस भाव तथा नियम से वे विद्यमान हैं, उनका अन्योन्य सम्बन्ध क्या

1. धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति धर्मेण पापमपनुदन्ति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति। —*तैत्तरीय आरण्यक*
2. एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि। —*पुरुषसूक्त*

है, उनके जन्मादिषड्भावविकार का तत्व क्या है, इन सब विषयों का ज्ञानार्जन जगद्धर्म स्वरूप के दर्शनार्थ आवश्यक है। ऋग्वेद का कथन है कि अदाभ्य (अहिंसा) (जिसकी कोई हिंसा न कर सके, जिसके शासन को अतिक्रम करने की शक्ति किसी में नहीं है, जो अप्रतिहत शासन हैं, अमिट प्रभाव अनन्तशक्ति हैं) गोपाविष्णु (विश्वरक्षक, सर्वव्यापक) धर्म को धारण करने के लिए पृथिव्यादि लोकत्रय को अग्नि, वायु तथा आदित्य रूप पादत्रय से व्याप्त करके विद्यमान हैं।[1]

जो सत्य है, वही धर्म है। सत्य ही धर्म का रूप है। धर्म शब्द को हम साधारणतः क्या इसी अर्थ में देखते हैं? महर्षि कणाद का कथन है कि जिससे अभ्युदय तथा निःश्रेयस, स्थिर कल्याण अथवा अपवर्ग की सिद्धि हो, वही धर्म है। महर्षि जैमिनि कहते हैं, वेद प्रतिपाद्य प्रयोजनवत् वेदबोधित, इष्टसाधन अर्थ रूप यागादि ही धर्म है।[2] धर्म से हम सामान्यतः यज्ञ-दान-व्रत-नियम को ही समझते हैं। यज्ञादि सत्य के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। सत्य का आश्रय लिये बिना अभ्युदय अथवा निःश्रेयस की सिद्धि नहीं होती। महर्षि कणाद 'अब धर्म की व्याख्या करूँगा' इस प्रकार की प्रतिज्ञा के अनन्तर धर्म की व्याख्या करते हैं। द्रव्य-गुण कर्म इत्यादि पदार्थों के तत्वज्ञान के बिना अभ्युदय अथवा निःश्रेयसिद्धि नहीं हो सकती। इसीलिए इनके स्वरूपनिरूपण की चेष्टा करते हैं। तत्वज्ञानोदय के बिना अपवर्ग नहीं मिलता। तत्वज्ञान धर्मविशेष से (निवृत्ति लक्षण धर्म से) प्रसूत होता है। सत्य ही धर्म का स्वरूप है। यह महर्षि कणाद की उक्ति है। महर्षि जैमिनी का कथन कि सत्य ही धर्म का स्वरूप है, महर्षि कणाद की उक्ति का विरोधी नहीं है। तब यह अवश्य कहना है कि ज्ञान तथा कर्म ही धर्म के द्विविध रूप हैं। कर्म के बिना चित्तशुद्धि नहीं होती। चित्तशुद्धि के अभाव में तत्वज्ञानोदय नहीं होता। क्या सत्य है उसे जानना तथा जो सत्य है उसका आश्रय करना, सत्य से भ्रष्ट नहीं होना, आत्मकल्याणार्थ यह दो कर्तव्य हैं।

श्रुति का कथन है कि पुरुषार्थ का मार्ग-साधन द्विविध है कर्म तथा ब्रह्म। कर्म तथा ब्रह्म शब्दद्वय का क्या अर्थ है? सायणाचार्य कहते हैं कर्म शब्द द्वारा उस विषय का ज्ञान प्राप्त करके अनुष्ठान करना तथा ब्रह्म शब्द से उस विषय के ज्ञान-मात्र का विवक्षित होना।[3] जो आत्मकल्याणार्थी हैं, वे कर्म तथा ज्ञानरूप उभय

---

1. त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्

—*ऋग्वेद संहिता* 1/1/22, *सामवेद संहिता, उत्तर वार्तिक* 8/2, *शुक्लयजुर्वेदसंहिता* 74/43

2. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः। —*पूर्वमीमांसा दर्शन*
वेदप्रतिपाद्यप्रयोजनवदर्थो धर्मः। —*अर्थसंग्रह* (लौंगाक्षिभास्कर)
तत्र वेदबोधितेष्टसाधनताको धर्मः। यथा यागादि। —*मीमांसा परिभाषा*

3. एष पन्था एतत् कर्मैतद्ब्रह्मैतत् सत्यं। —*ऐतरेय आरण्यक*
तत्र कर्मशब्देन तद्विषयं ज्ञानपूर्वकमनुष्ठानं विवक्षितं।
ब्रह्मशब्देन तु तद्विषयं ज्ञानमात्रम्। —*सायणभाष्य*

आम्नाय मार्ग से कभी भ्रष्ट नहीं होंगे। वे इस द्विविध वैदिक साधन सम्पादन से आलस्य आदि के कारण कभी विमुख नहीं होंगे। व्यास, वशिष्ठादि महर्षियों ने इस मार्गद्वय का अतिक्रम नहीं किया। जो नास्तिक हैं, वे इस मार्गद्वय का अतिक्रमण करके पुरुषार्थ भ्रष्ट हो जाते हैं।[1]

वेदबोधित धर्मपदार्थ के स्वरूप का यथाप्रयोजन दर्शन कर लिया गया। अब विज्ञान के रूप को स्मरण करना है। सत्य अथवा तत्व-ज्ञान ही विज्ञान है। विद्वान् हिचकाक् कहते हैं कि वैज्ञानिक तथ्य (Scientific Truth) प्राकृतिक नियमों का पर्यायान्तर है। प्राकृतिक नियम किसे कहते हैं? जो अव्यभिचारी नियमानुसार परमेश्वर के द्वारा सृष्ट विश्वजगत् में कार्य-सम्पादन करे वही है प्राकृतिक नियम (Law of Nature)। इस कारण विज्ञान परमेश्वर के भूत-भौतिक पदार्थ तथा मन के ऊपर कर्त्तृत्व के क्रियानिवर्त्तकत्व इतिहास के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।[2]

यदि विज्ञान तथा धर्म एक ही पदार्थ हैं, तब ये पृथक् क्यों लक्षित होते हैं? वैज्ञानिक विद्वान् ड्रेपर तब रिलिजन एवं विज्ञान के विरोध प्रदर्शनपूर्वक बृहदायतन ग्रन्थ क्यों लिखते? आधुनिक धर्माचार्यगण विज्ञान के अभ्युदय से वात्याहत (वायु से आहत) कदली वृक्ष के समान कम्पित शरीर वाले क्यों हो रहे हैं? उधर वैज्ञानिकगण भी धर्म को अकिंचित्कर पदार्थ क्यों मानते हैं? हमारा विश्वास है कि धर्म तथा विज्ञान की विकलांगता इसका कारण है। आधुनिक वैज्ञानिक सामान्यतः किसी कार्य के परमकारण का अनुसंधान नहीं करते। अतीन्द्रिय पदार्थ का तत्वान्वेषण भी निष्प्रयोज्य मानते हैं। भूत तथा भौतिक शक्ति के बिना पदार्थ का अस्तित्व इनको प्रतिभात नहीं होता। इस लोक से भिन्न लोकान्तर के अस्तित्व पर इनको विश्वास नहीं है। अदृष्ट (पूर्व संस्कार) को नहीं मानते, ईश्वर नामक पदार्थ के अस्तित्व को मानना तथा उसकी उपासना करना इन वैज्ञानिकों को अनावश्यक लगता है। इसीलिए ऊपर उक्त वैज्ञानिकगण धर्मानुष्ठान को व्यर्थ पशुश्रम मानते हैं। यही कारण है कि धर्माचार्यगण इनको पसन्द नहीं हैं।

धार्मिकगण[3] (Theologians) में अनेक व्यक्ति इस समय से विज्ञान की उन्नति को सहन नहीं कर पाते, क्योंकि इन्हें भय है कि विज्ञान का अभ्युदय होने से

---

1. तस्मान्न प्रमाद्येत्तन्नातीयात् नह्यत्ययम् पूर्वेयहत्यायंस्ते परावभूवुः। —*ऐतरेय आरण्यक*
   प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीर्युन्यन्या अर्कममितो विविश्रे।
   बृहद्दृतस्तौ भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आविवेश। —*ऋग्वेद संहिता*
2. Scientific truth is but another name for the laws of nature. A law of nature is merely the uniform mode in which the deity operates in the created universe. It follows, then that science is only a history of the divine operations in matter and mind.
   —*The Religion of Geology* by Hitchkok, Page 290
3. धार्मिक शब्द का यह व्यवहार हमारे द्वारा अनुमोदित नहीं है। प्रकृत धार्मिक तथा प्रकृत वैज्ञानिक हमारी दृष्टि से पृथक् नहीं हैं।

लोगों की धर्म में अनास्था हो जायेगी। हमारा विश्वास है कि ये सभी भ्रान्त हैं। जो धर्माचार्य विज्ञान से द्वेष करते हैं, वे धर्म के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानते। विज्ञान के अभ्युदय से जिस धर्म में लोगों की अनास्था हो जाती है, वह धर्म है ही नहीं। जो विज्ञान धर्म को अकिंचित्कर मानते हैं, जिस विज्ञान की दृष्टि में धर्मानुष्ठान पशुश्रम है, वह विज्ञान भी अज्ञान ही है। वेदाध्ययन करने से ज्ञात होता है कि विज्ञान तथा धर्म अभिन्न पदार्थ है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि आजकल हम जिसे विज्ञान शब्द से लक्ष्य करते हैं, वह जड़ विज्ञान है। वह धर्म का एक पादान्तवर्ती मात्र है, वह धर्म पारावार (समुद्र) का मात्र एक बुलबुला है। वेदबोधित धर्म विज्ञान को स्नेह दृष्टि से देखता है, वह पिता के समान विज्ञान की उन्नति की प्रार्थना करता है।

जो कुछ भी हो, धर्म ही विश्व जगत् का प्रकृत राजा है, प्रकृत नियन्ता है। राजा धर्म का अवतार है, वह इन्द्रादि के अंश से अवतीर्ण है। यह शास्त्रोपदेश वास्तव में असभ्योचित नहीं है। श्रुति ने धर्म को ही राजा माना है। राजा तथा प्रजा की शास्त्रांकित प्रतिकृति का रूप संक्षेप में प्रदर्शित किया गया। अब दोनों प्रतिकृति की तुलना द्वारा क्या शिक्षा मिलती है, इसे विचार करना है। हमने पहले ही कहा है कि प्रतिकृति की तुलना से क्या शिक्षा मिलती है, यह विचारणीय है। हम पहले से ही जानते हैं कि प्रतिकृतिद्वय में किसी न किसी अंश में कुछ सादृश्य रहता है। तथापि अत्यन्त वैसादृश्य भी रहता है। यह हमारी धारणा है।

अराजक (बिना राजा के) जो जनपद है, वह विविध दोषों का आकर है। राजा के न रहने से प्रजा के अपाय का परिहार नहीं होता। तब ऐसा होने पर बलवानों द्वारा दुर्बल अभिभूत होते हैं, अराजक जनपद में भीषण पाप का स्रोत तीव्र वेग से प्रवाहित रहता है। शास्त्र के साथ इस सम्बन्ध में विज्ञान का सादृश्य है। किन्तु शास्त्र राजा को जिस दृष्टि से देखता है, विज्ञान राजा को उस दृष्टि से देखने का उपदेश नहीं देता। बल्कि उस दृष्टि से देखने को विज्ञान असभ्योचित कहता है। शास्त्र का उपदेश है कि अदृष्ट तथा पूर्वकर्म के अनुसार सभी कर्म फलप्रद होते हैं। सर्वकर्म के साक्षी परमेश्वर द्वारा सृष्ट पदार्थसमूह के जात्यादि को व्यवस्थापित किया गया है। संसार में कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई धनी, कोई निर्धन, कोई विद्वान्, कोई मूर्ख, कोई राजा, कोई प्रजा है, इसका कारण है पूर्वजन्मकृत कर्म। मनुष्य किसी को भी राजा अथवा प्रजा नहीं बना सकता। वह किसी को भी सुखी अथवा दुःखी नहीं कर सकता। अपने पुण्यबल से ही राजा—राजा बनता है।

विज्ञान अदृष्ट तथा पूर्वजन्मकृत पुण्य-पाप पर विश्वास नहीं करता, अतः वह यह नहीं मानता कि राजा अपने अदृष्ट के कारण राजा होता है। शास्त्र से विज्ञान का यह स्पष्ट वैसादृश्य है। वैज्ञानिक विद्वान् बुकनर (Buchner) कहते हैं कि राजनैतिक सम्बन्धानुसार कोई व्यक्ति प्रजा अथवा राजा नहीं हो सकता। ये प्रजातन्त्र राज्य (Republican Form of Government) का आदर करते हैं। यूरोप-

अमेरिका प्रभृति सुसभ्य राज्य प्रजातन्त्र राज्याकार में परिणत होंगे।[1] अथवा केवल बुकनर ही क्यों, आधुनिक वैज्ञानिक अथवा राजनीतिकुशल व्यक्ति मात्र का यही मत है कि एक प्रभुक अथवा एकराजयत्त राष्ट्र (Monarchical Government) का सुसभ्य जाति में रहना उचित नहीं है।

साधारण अथवा प्रजातंत्र राज्य से क्या द्योतित होता है? विद्वान् बुकनर (L. Buchner) कहते हैं कि किसी एक ही व्यक्ति को अन्य व्यक्ति वर्ग के नियामक रूप से मान्यता क्यों दी जाये? एक ही व्यक्ति को सर्वेसर्वा क्यों बनाया जाये? सभी व्यक्ति का समान स्वातंत्र्य क्यों न रहे? अतएव यह निश्चित होगा कि राज्य में किसी व्यक्ति विशेष को प्रमुख रूप से नियन्तृभाव से ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए। जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की राजनैतिक स्वतन्त्रता (Political Freedom) समान है, उसका नाम साधारण अथवा प्रजातंत्र राज्य है।

एक ही प्रभुवाला राज्य हो अथवा साधारण (प्रजातंत्र) राज्य हो, दोनों को ही नियमाधीन होकर चलना होगा। कोई भी निष्प्रतिबन्ध नहीं है। राजा यदि धर्म अथवा नियमातिक्रमणपूर्वक स्वेच्छाचारी हो, प्रजापीड़क हो, शास्त्र का कथन है कि उसका राज्य स्थिर नहीं होता। इसी कारण से शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि राजा को धर्म के शासन में रहना होगा। धर्म राजा का भी नियन्ता है। अतएव वैदिक आर्यजातीय भूपाल वर्ग शास्त्र का नियमोल्लंघन करके अन्याय आचरण (अधिकांशत:) नहीं करते थे। यह सुयोग नहीं था कि भूपाल वर्ग शास्त्र का नियमोल्लंघन करें अथवा अन्याय-आचरण करें। राजा राज्य का अधिकारी अवश्य था, किन्तु वह सभी विषय में क्षमताशाली नहीं हो सकता है। उसे योग्य मन्त्रियों से परिवेष्ठित होकर कार्य करना पड़ता था। राजरक्षा की बात तो दूर की है, शासन-कार्य में भी कोई राजा एकाकी कार्य निर्वाह का अधिकारी नहीं था। फलत: आधुनिक पाश्चात्य राजनीति-कुशल अथवा वैज्ञानिक पण्डितगण इन सब सुविधाओं के लिए एक राजा की जगह, एक राजा के परिवर्त में प्रजातन्त्र की कामना करते हैं, वेदादिशास्त्रवर्णित एक-राजायत्त राज्य में प्रजागण को उससे अधिक सुविधा थी। अभी हम जिस राज्य में वास कर रहे हैं, यह भी कुछ अर्थ में वेदशास्त्रादिवर्णित राज्यानुकूल है। प्रजातन्त्र राज्य में जो दोष हैं, वह दोष एकराजायत्त वेदादिशास्त्रवर्णित राज्य में नहीं हैं। पुन: कहता हूँ कि ईश्वर ही वास्तविक राजा है। प्रजागण ईश्वरीय नियमानुसार शासित हैं। ईश्वर योग्यतानुरूप जिसे जिस कार्य में नियोजित करता है, उसका वही कर्म करना उचित है। ईश्वरीय नियम का उल्लंघन शुभ नहीं है।

---

1. In a political relation no one should be the subject or the lord of another. The introduction of a republican form of government in the civilized states of Europe, America etc, can therefore only be regarded as a question of time.

— *Man in the Past, Present and Future*
by Dr. L. Buchner, Page 163

प्राकृतिक नियमों के ऊपर दृष्टिपात करने से प्रतिपन्न होता है कि साधारण अथवा प्रजातंत्र राज्य प्राकृतिक नियमानुमोदित नहीं है। जो प्राकृतिक नियमानुमोदित नहीं है, उसकी स्थिति कभी स्थिर नहीं हो सकती। वह कभी भी शुभफल प्रसव में पारग नहीं होता। अपने देहराज्य के तत्व की पर्यालोचना करने से विदित होता है कि साधारण अथवा प्रजातन्त्र राज्य-पद्धति प्राकृतिक नहीं है। भूततन्त्र अथवा गणिततन्त्र में व्याख्यात प्राकृतिक नियमसमूह भी प्रजातन्त्र राज्य में अप्राकृतिक है, उसका ही प्रतिपादन किया जाता है। जहाँ नियम है, वहीं नियम्य अथवा नियामक हैं। राजा तथा प्रजा भी नियम्य-नियामक सम्बन्ध से परस्परतः सम्बद्ध हैं। किसी समतल क्षेत्र की उत्पत्ति में एक उत्पादिका रेखा (Generatrix) तथा एक नियामिक रेखा (Diretrix), इन रेखाद्वय का प्रयोजन है। जिस सरल रेखा से उत्पादिका रेखा की गति नियामित होती है, उसे नियामिका रेखा कहा गया है। नियामिका रेखा ही राजा स्थानीय है। यन्त्र विज्ञान में भी एकप्रभुक राज्य ही प्राकृतिक कहा गया है। प्रत्येक जड़बिन्दु समष्टि में एक-एक भावकेन्द्र (Centre of Gravity) है। भावकेन्द्र का अवलम्बन लेकर द्रव्यमात्र ही स्थिर हो जाता है। उसके आश्रयशून्य होने पर सभी द्रव्य विचलित हो जाते हैं। यदि किसी वस्तु की भावकेन्द्र विनिर्गत लम्ब रेखा उसके नीचे न पड़कर बाहर पड़ती है तब वह स्थिर नहीं रहती, भूमि में पतित हो जाती है। इन सभी उपदेश से विदित होता है कि एकराजायत्त राज्य प्राकृतिक है। ऐसे राज्य की अण्डाकृति (Ellipse) से तथा साधारण (प्रजातंत्र) राज्य की अनुवृत्त (Parabolic Curve) से तुलना की जा सकती है। अण्डाकृति संज्ञक वक्र (Curve) का आकर्षण धर्म (Attractive Properties) प्रबलतम है। पृथ्वी तथा अन्य ग्रहमण्डल समूह सौरसंस्थान केन्द्र के चतुर्दिक् अण्डाकृति वक्राकार ही धारण करते हैं। इससे अनुमान होता कि समाज एकराजायत्त राज्य हो, यही मानो प्रकृति का आदेश है। पृथिव्यादि वक्रसमूह को हम पथप्रदर्शक मानते हैं, यही मानो प्रकृति का अभिप्राय है।[1]

ऋषिश्रेष्ठ पिप्पलाद से भृगुपुत्र वैदर्भि ने जिज्ञासा की—"भगवान्! कौन-कौन देवता प्रजा को धारण करते हैं, कौन-कौन देवता बुद्धिन्द्रिय (चक्षु-कर्ण-प्रभृति) तथा कर्मेन्द्रियों के प्रकाशक हैं? किसने इनको प्रकाशशक्ति प्रदान की है?" जिन देवों द्वारा यह सब कार्य सम्पादित होता है, उनके मध्य कौन देवता वरिष्ठ हैं? ऋषि पिप्पलाद ने वैदर्भि को इसके उत्तर में कहा कि आकाश-वायु-अग्नि-जल तथा पृथ्वी शरीर के आरम्भक पंचमहाभूत एवं 11 इन्द्रियाँ (पंचज्ञानेन्द्रिय-पंचकर्मेन्द्रिय

---

1. Now this is a curve which possesses most attractive properties. It is the curve which the earth and other planetary orbs describe around the centre of the solar system as if nature intended that we should take this figure as a guide in choosing the most advantageous social system.—*The Romance of Mathematics*, p. 34

तथा मन) ये कार्य लक्षण तथा करण लक्षण देवता अथवा शक्ति अपना-अपना माहात्म्य प्रकाशित करके परस्परतः स्पर्द्धा करते हुए रहते हैं कि "हम कार्यकरणसंघात शरीर को उसी प्रकार सहारा दिये रहते हैं जैसे स्तम्भ भवन को सँभाले रहता है।" अर्थात् कार्यकरण शक्तिसमूह की स्वतंत्र शक्ति अथवा कर्ता का प्रत्याख्यान करते हुए प्रत्येक का 'मैं' ही देह को धारण किये रहता है। (प्रत्येक इन्द्रियाँ देह को धारण किये रहती हैं)। वे आपस में यह स्पर्द्धा रखती हैं कि मैं ही प्रधान हूँ। अब मुख्य प्राण भी इन अभिमानी कार्यकरण शक्तिसमूह को कहता है कि अविवेकिता के कारण वृथा ऐसा अभिमान न करो। हमने ही तुम सबको पंचधा विभक्त किया है। शरीर को धारण किया है।" मुख्य प्राण के ऐसा कहने पर भी इन्द्रियाँ उसका विश्वास नहीं करतीं। मुख्य प्राण यह देखता है कि दास लोग मेरा प्रभुत्व नहीं मान रहे हैं। अतः वह शान्त बैठ जाता है, चेष्टारहित हो जाता है। अर्थात् अपनी शक्ति का संहार करके ऊर्ध्व में, स्वस्थान मस्तिष्क में प्रवेश कर जाता है। जैसे राजा के स्थिर होने पर सभी स्थिर हो जाते हैं, उसी प्रकार से प्राण के कारण ही सभी इन्द्रियाँ अपना कार्य कर पाती हैं। प्राण के स्थिर होते ही इनको भी स्थिर हो जाना पड़ता है। इनमें स्वतः प्रवृत्त होकर कार्य करने का कोई सामर्थ्य नहीं है। प्राण के उत्क्रमण करते ही इन्द्रियों को प्राण के महत्व का अनुभव होता है, और वे सब मिलकर प्राण की स्तुति करने लगती हैं।"[1]

प्राणादि पंचवायु स्वरूपतः पृथक् पदार्थ नहीं है। एक शक्ति ही स्थान तथा क्रियाभेद से प्राणादि भिन्न-भिन्न संज्ञा से संज्ञित होती है।[2] जैसे सम्राट् अपने अधिकारान्तर्भूत लोगों में से योग्यतानुसार कतिपय व्यक्ति को अपने शासन-कार्य निर्वाह हेतु पृथक्-पृथक् स्थान का शासक नियुक्त करते हैं, उसी प्रकार मुख्य प्राण भी अन्य प्राणों को देहराज्य के पृथक्-पृथक् कार्य का भार देता है। वे मुख्य प्राण के आदेश का पालन करते हैं।[3]

प्राण का स्वरूप हृदयंगम करने के लिए विद्वान् स्टुअर्ट संग्राम के चित्र को दृष्टान्तरूपेण ग्रहण करते हैं। वे कहते हैं कि मानों बहुत से सैनिकों द्वारा एक समर-व्यापार सम्पादित हो रहा है। योद्धाओं के एक प्रधान नेता हैं। किन्तु उनके निदेशवर्ती योद्धावर्ग इनको देख नहीं पाते, ये भी किसी को नहीं पहचानते। एक सर्वतोभाव से रक्षित दुर्ग में इन नेता का निवास है। वहीं से टेलीफोन, बेतार के तार आदि से

---

1. तद् यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रमन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रतिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं ते प्रीताः प्राणं स्तुवन्ति। —*प्रश्नोपनिषद्*
2. भिन्नोऽनिलस्तथाह्येको नामस्थानक्रियामयैः। प्राणापानौ समानश्च व्यानश्चापान एव च॥ —*सुश्रुत संहिता*
3. यथा सम्राडेवाधिकृतान् विनियुङ्क्ते एतान् ग्रामनेतान्।
ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राणः इतरान् प्राणान्, पृथक्पृथमेव सन्निधत्ते —*प्रश्नोपनिषत्*

प्रधान-प्रधान अधिकारियों को आज्ञा देते हैं तथा युद्ध का संवाद प्राप्त करते हैं। तदनन्तर वे अधिकारी अन्य सम्बन्धित अधीनस्थों को उस आज्ञा से अवगत कराते हैं। प्राणनामक जो दुर्ज्ञेय पदार्थ है, उसके सम्बन्ध में हम अधिक नहीं जानते। वह लगता है कि इस उदाहरण के समान ही कार्यप्रणाली अपनाता है।[1]

विज्ञान भिक्षु कहते हैं कि अधस्तन राज्यकर्मीगण प्रजावर्ग के पास से राजस्व संग्रह करके, जैसे मन्त्री को समर्पण करते हैं, चक्षुरादि इन्द्रियाँ उसी प्रकार से रूप रसादि भोग्यजात ग्रहण करके देह राजमन्त्री मनः को प्रदान करते हैं। अन्तःकरण (निखिल व्यवहारकरण) का केन्द्र-स्थान है। आत्मा अन्तःकरण द्वारा ही दर्शनादि कार्य सम्पादन करता है।[2]

अतः यह अबाधित रूप से कहा जा सकता है कि एकराजायत्त (एक राजा वाला) नियम तन्त्र राज्य ही प्राकृतिक है। भौतिकराज्य, जीवराज्य, देवराज्य सभी एक स्वर से इसका ही प्रतिपादन करते हैं। हमारा देहराज्य एकराजायत्त है। यह देहराज्य नियमतंत्र का राज्य है। प्रश्नोपनिषत् के वचन का यही आशय है। डॉक्टर वैलर हमारे शरीर को नियम तन्त्र का राज्य कहते हैं।

एकराजायत्त नियमतन्त्र राज्य में निवास करने से केवल ऐहिक शान्ति सुखभोग ही नहीं, वह राज्य हमें विश्व सम्राट् के चिरशान्तिमय अमृतधाम में प्रवेश का मार्ग भी प्रदर्शित करा देता है। राजशक्ति केवल ऐहिक सुख विधायक ही नहीं है, यथाशास्त्र राजा के प्रति भक्ति करने से हृदय में क्रमशः सर्वसन्तापनाशिनी, परम शान्तिमयी भगवद्भक्ति का भी उदय होता है। प्रजातन्त्र राज्य में ईश्वर-विश्वास का ह्रास होता है। हृदय मरुभूमि के समान नीरस हो जाता है। जीवन रणभूमि के समान अशान्ति की लीलाभूमि में परिवर्तित हो जाता है। राजा तथा प्रजा के स्वरूप का दर्शन हो गया। अब ब्राह्मणादि वर्ण भेदतत्व तथा नीचोत्तमतत्वनिर्द्धारणार्थ हमारे राजा का क्या यत्न है, इसे यथाबुद्धि बताने का प्रयत्न किया जा रहा है।

ब्राह्मणादि जातिभेद ही समाजशरीर गठन का, समाजशरीर की स्थितिवृद्धि परिणाम में सामाजिक उन्नति का बीजभूत है। पाश्चात्य वैज्ञानिकगण इसी को प्रकारान्तरेण स्वीकार करते हैं। जो वैदिक आर्यवंशधर हैं, जिनकी प्रकृति पूर्णतः विकृत नहीं है, जो शास्त्रोपदेश को शिरोधार्य करते हैं, उनके धर्मरक्षक, प्रजापालक सुसभ्य राजा द्वारा वर्णाश्रम धर्म के रक्षणार्थ जो प्रयत्न किया जा रहा है उसमें वे भी चेष्टावान् हो जाते हैं। वैदिक समाज, वैदिक धर्म, वेदशासित राज्य वर्णमूलक है।

---

1. Let us suppose that a war is being carried on by a vast army, at the head of which there is a very great commander... Now that mysterious thing called life, about the nature of which we know so little, is properly not unlike such a commander.
   —*The Conservation of Energy* by Stuvert Bellfort, Page 161
2. करणानि च देहेषु राजार्थमधिकारवत्।
   भोग्यजातं मनोमत्रीण्यपर्यन्ति स्वभावतः॥ —*सांख्यसार*

वर्णाश्रम व्यवस्था ही वास्तव में राज्य की स्थायी सभ्यावस्था का मूल है। वर्णाश्रम व्यवस्था ही ऐहिक पारलौकिक कल्याण कराने वाली है। ब्राह्मणादि वर्णभेद के तत्व को जानने तथा नीचोत्तम तत्व निर्धारणार्थ हमारे स्वधर्मपरायण राजा को चेष्टारत देखकर जो विस्मयाविष्ट अथवा भीत होते हैं कि राजा का अभिप्राय सत् नहीं है, और इस प्रकार से शास्त्रविगर्हित अकल्याणकर मत का पोषण करते हैं, वे निश्चय ही स्वजातिमूलक प्रतिभा को खो चुके हैं। उनके चित्त में निश्चय ही विजातीय संस्कार मल आ गया है। साधारण प्रजातन्त्र (राज्याभिलाषी) हेतु पाश्चात्य विद्वानों की आपात्रमणीय, परमविरस उपदेश राजि को हम सद्रूप आभासमय मान कर उसका पक्ष लेते हैं। जो प्रजातन्त्र राज्य की कामना करते हैं, वे कदापि वर्णाश्रम व्यवस्था को हितकर नहीं मानते।

क्यों मानव तत्वानुत्संधित्सु सुधीवर्ग इतने दिन वेदादिशास्त्र व्यवस्थापित वर्णाश्रम तत्व पर दृष्टिनिःक्षेप नहीं कर सके? यह हम भी नहीं कर सके। मानव-तत्व के साथ वर्णाश्रम-तत्व का कोई सम्बन्ध है अथवा नहीं, विचक्षण मानव तत्वानुसन्धान निरत पण्डितों द्वारा अवश्य अनुसन्धेय है। वर्णाश्रम व्यवस्था आधुनिक नहीं है। इस दीर्घकाल में किस व्यवस्थानुसार वैदिक आर्यजाति अपना अस्तित्व बनाये रहकर चली आ रही है, क्या उसके मूल में कोई सत्य नहीं है? चिन्तनशील मन में इस प्रकार का प्रश्न उठना प्राकृतिक है।

परमेश्वर ने योगपात्र मान कर जिसके हाथ में हमारा शासनभार न्यस्त किया है, वे इच्छापूर्वक हमारा अनिष्ट करेंगे, यह कभी सम्भव नहीं हो सकता। अतएव हमारा विश्वास है कि हमारे राजा में शुक्राचार्य प्रदर्शित पितृत्वादि सप्त गुण विद्यमान रहता है। शास्त्र का कथन है कि वर्णाश्रम धर्मपालन करने से अभ्युदय तथा निःश्रेयस सिद्धि होती है। हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि हमारा शासक कभी भ्रष्ट न हो।

●

उपसंहार

उपसंहार किसको कहते हैं? 'उप' पूर्वक 'सम' पूर्वक 'हृ' धातु के उत्तर में 'घञ्' प्रत्यय करने से उपसंहार पद सिद्ध होता है। अन्त, शेष, एकत्रीकरण, सम्यगाहरण, विस्तारपूर्वक निरूपित पदार्थ के सारांश-कथन द्वारा तन्निरूपण समापन, ग्रन्थतात्पर्यावधारक लिंग विशेष, सहचार उपन्यास (Drawing in or together; Contracting, Summing up; Conclusion : A Compendium) उपसंहार शब्द के ये सब अर्थ हैं। रघुनाथ शिरोमणि ने स्वप्रणीत 'अनुमानदीधीति' ग्रन्थ में उपसंहार शब्द का 'सहचर' अर्थ ग्रहण किया है।[1] महर्षि गौतम ने 'उपनय' संज्ञक चतुर्थ न्यायावयव का लक्षण करते समय उपन्यास वाक्य प्रयोग समझाते हुए उपसंहार शब्द का प्रयोग किया है।[2] श्रवण तथा स्वरूप-निरूपण के अवसर पर वेदान्तसार में उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद तथा उपपत्ति रूप षड्विध तात्पर्यधारक लिंग का विवरण दिया गया है। वेदान्तसार का कथन है कि जिस प्रकरण में जो पदार्थ प्रतिपाद्य है, उस प्रकरण के आदि से लेकर अन्त तक के उसी पदार्थ के कथन का नाम है उपक्रमोपसंहार।[3] छान्दोग्योपनिषद के षष्टाध्याय के आदि में अद्वितीय ब्रह्म ही एकमात्र सत् पदार्थ है तथा अन्त में यह आत्मा ही जगन्मय है, इस प्रकार से प्रकरण में प्रतिपाद्य पदार्थ अद्वितीय ब्रह्म कथित हुआ है। हम यहाँ उपसंहार शब्द का यह अर्थ ग्रहण करते हैं कि "विस्तारपूर्वक निरूपित पदार्थ के सारांश-कथन द्वारा उसके निरूपण का समापन (Conclusion)।"

राजा तथा प्रजा शीर्षक प्रतिपाद्य पदार्थ से ब्राह्मणादि वर्णभेद के तत्व तथा नीचोत्तमत्व के निर्द्धारणार्थ विविध विद्याविवर्द्धन करते समय सत्यसन्ध प्रजावत्सल राजा का जो यत्न है वह है समभिप्राय मूलक तथा सुराजोचित, यह ज्ञात होता है।

---

1. ननुपसंहार: सहचारो तन्निश्चयो वा आद्येतादृशस्याभावो निखिल प्रसिद्धानुपसंहार्यव्यापक: अतिव्यापकश्च रूपं द्रव्यभिन्नं गुणवत्वदगुणकर्मावृत्तिजातिमत्वा दित्यादे....—रघुनाथ शिरोमणि कृत *अनुमान दीधिति* के हेत्वाभास का अनुमानख्य द्वितीय खण्ड।
2. उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारी न तथेति वा साध्यस्योपनय:। —*न्यायदर्शन*
   वृत्तिकार कहते हैं साध्य के पक्ष के उदाहरणापेक्ष उदाहरणानुसारी जो उपसंहार है, उपन्यास है, उसका नाम उपनय है। (साध्यस्य पक्षस्योदाहरणापेक्ष उदाहरणानुसारी य उपसंहार: उपन्यास: स इत्यर्थ:। —*गौतम सूत्रवृत्ति* 1/37)
3. श्रवणं नाम षड्विधलिङ्गैरशेषवेदान्तानामद्वितीय वस्तुनि तात्पर्यावधारणं। लिङ्ग...
   —*वेदान्तसार*

सिद्धान्त कौमुदी की टीका में नागेश भट्ट कहते हैं, 'यह इस प्रकार' किसी पदार्थ हेतु कहना प्रतिज्ञा कहा गया है। भट्टोजी दीक्षित कहते हैं कि जो प्रतिपाद्य होता है, अंगीकृत होता है वह प्रतिज्ञा है। दीधीतिकार रघुनाथ शिरोमणि भगवान् गौतम-कृत इस प्रतिज्ञालक्षण की व्याख्या करते समय कहते हैं कि विधेय धर्मविशिष्ट धर्मी का नाम है साध्य। पक्षतावच्छेदक पर्वतत्वादि विशिष्ट साध्यत्वावच्छेदक वह्नित्वादिविशिष्ट वैशिष्ट्य ज्ञानजनक न्यायावयव प्रतिज्ञा कही गयी है। मथुरानाथ तर्कवागीश कहते हैं कि जिसके द्वारा 'साध्यनिर्दिष्ट हो' इस प्रकार की व्युत्पत्ति से साध्य प्रतिपादक शब्द का नाम प्रतिज्ञा है। प्रतिज्ञा के इत्थम्भूत लक्षण की प्रतिपत्ति होती है। जगदीश कहते हैं कि साध्य के, विधेय विशिष्ट धर्मी के निर्देश के तद्बोधक शब्द का नाम है प्रतिज्ञा। शिवादित्य का कथन है कि पक्षवचन का नाम है प्रतिज्ञा।

पाश्चात्य तर्कशास्त्र (Logic), प्रोपोजिशन (Proposition) शब्द द्वारा यथोक्त प्रतिज्ञा पदार्थ को ही लक्ष्य करते हैं। विद्वान् जान स्टुअर्ट, जे०एस० मिल कहते हैं कि किसी के या कुछ के सम्बन्ध में कुछ स्वीकार या अस्वीकारात्मक प्रवचन (Discourse) या वाक्य को प्रोपोजिशन कहते हैं। प्रोफेसर बेन कहते हैं कि किसी साध्य अथवा उद्देश्य (Subject) का कोई विधेय (Predicate) स्वीकार अथवा अस्वीकार प्रोपोजिशन है। विद्वान् जेवन्स कहते हैं कि प्रोपोजिशन पदार्थों के कालगत, देशगत, क्रमगत, परिणामगत, अंशगत अथवा अन्य किसी प्रकार के सम्बन्ध का जिसके द्वारा पदार्थसमूह समीकृत अथवा विशेषित हो, समान अथवा असमान रूप से विवेचित होकर रहें, वैसे सादृश्य, वैसादृश्य का निर्वाचन करता है।[1]

अन्य को बतलाने के लिए परत्र स्वबोधसंक्रमणार्थ प्रयुक्त शब्दसमूह ही है प्रतिज्ञा। वात्स्यायन मुनि कहते हैं—प्रमाण समवाय, आगम अथवा वाक्य ही प्रतिज्ञा है। विद्वान् Ueberweg अनेकतः इसी मत का प्रकाशन करते हैं।[2]

ज्ञान का स्वरूप-निरूपण करने में प्रवृत्त होकर विद्वान् काण्ट कहते हैं कि अनन्य सम्बन्ध कोई मानस भाव ज्ञान (Knowledge) नहीं है। हम किसी पदार्थ को केवल उसके द्वारा नहीं जान पाते। भावान्तर के सम्बन्ध के द्वारा हम एक भाव को जानते हैं। अतएव ज्ञानमात्र ही उद्देश्यविधेय सम्बन्धात्मक (There must be a subject and a predicate i.e. a judgement) है।

---

1. A proposition is discourse in which something is affirmed or denied of something. — *Mill's System of Logic*, Vol. I, Page 49
   A proposition either affirms or denies a predicate of a subject.
   —*Bains Logic*, Part I, Page 83
   'Propositons may assert an identity of time, space, manner, quantity, degree, or any other circumstances in which things may agree or differ. —*Principles of Science*, Page 36
2. 'A judgement expressed in words in an assertion or proposition.
   —*System of Logic*, Dr. F. Ueberweg, Page 14

नाम तथा आख्यात इतरेतराकांक्षी हैं। परस्परत: एक-दूसरे की आकांक्षा करते हैं। शुद्ध नाम अथवा केवल आख्यात पद द्वारा शब्दोच्चारण का उद्देश्य संसिद्ध नहीं होता। वाग्व्यवहार नामनिरपेक्ष आख्यात का, किंवा आख्यात निरपेक्ष नाम का प्रयोग नहीं होता। यज्ञदत्त एकनाम पद है, कि जब तक 'पाक कर रहा है', 'पढ़ता है' इत्यादि किसी पद द्वारा उसकी आकांक्षा विनिवृत्त नहीं होती, तब तक इसके द्वारा किसी व्यावहारिक अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं होती। आख्यात पद सम्बन्ध में भी यही नियम है। आख्यात पद भी साकांक्षक है, नाम-पद का आकांक्षी है। मीमांसादर्शन के भाष्यकार शबरस्वामी कहते हैं कि 'नाम' पद द्रव्य तथा गुण का वाचक है। Substance और Attribute का वाचक है। द्रव्य क्रिया तथा गुण का आश्रय है। द्रव्य कभी भी क्रिया तथा गुणविरहित नहीं रहता। इसलिए किसी द्रव्य की स्वरूपावलब्धि करने के लिए उद्यत होने पर क्रिया तथा गुण का रूप नयनगोचर होगा ही।

इसलिए किसी उपलब्धि अथवा आन्तर ज्ञान की अभिव्यक्ति में परस्पराकांक्षि नामाख्यात अथवा द्रव्य-गुण-क्रियावाचक शब्द का व्यवहार किया जाता है। विद्वान् काण्ट के "किसी भाव को हम केवल उसके द्वारा नहीं जान सकते" इत्यादि वाक्य का आशय क्या है, इसके द्वारा स्पष्टत: समझा जा सकता है।[1]

महर्षि शौनक कहते हैं कि जिस शब्द के उच्चारित होने पर द्रव्य पदार्थ की प्रतीति होती है, सुधीगण उसे नाम की आख्या प्रदान करते हैं। भगवान् यास्क भी कहते हैं कि आख्यात भावप्रधान है तथा नाम सत्वप्रधान है। भाव है प्रधान जिसमें वह है भावप्रधान। जिसमें सत्य प्रधान है वह है सत्वप्रधान। भाव कौन पदार्थ है? नाम पदवाच्य अर्थाश्रित (द्रव्य समवेत) पूर्वापरीभूत क्रिया ही भाव पदार्थ है। ट्रेनडेनबर्ग (Trendenberg) कहते हैं कि सम्पूर्ण विचरणा में नाम या उद्देश्य

---

1. यज्ञदत्त इति हि नामशब्दस्ताधदेव साकाङ्क्षोभवति, यावत् पचति, पठति इत्याद्याख्यात शब्दैर्न निराकांक्षी क्रियत इति। —*निरुक्त टीका*

विद्वान् काण्ट विवेक तथा विवेचना समझाते हुए कहते हैं—"Kant defines the judgement to be the conception of the unity of the consciouness of different conceptions, or the conception of their relation so for as they make up one notion, or more definitely, the way to bring given cognitions to the objective unity of the appreception."

—*Ueberweg*, Page 192

नाम तथा आख्यात को क्रमश: सब्जेक्ट तथा प्रेडिकेट के समानार्थक कहा गया है। विद्वान् श्रेयरमेकर (Schleiermacher) कहते हैं कि "Subject and predicate are related as noun and verb. The one corresponds to the permanent existence or to an existence contained in itself; the other expresses a circumstance, deed or suffering — an existence contained in another."

—*Ueberweg*, page 193

निरुक्त तथा मीमांसदर्शनोक्त नाम तथा आख्यात का लक्षण स्मरण करना चाहिए।

(Subject) द्रव्य एवं आख्यात अथवा विधेय के क्रिया एवं गुण का अभिव्यञ्जन करता है।

प्रत्येक नाम जब किसी न किसी द्रव्य का वाचक है, जब द्रव्य भी गुण तथा क्रियायुक्त है, तब कहा जा सकता है कि चाहे कोई नाम हो, उसका आख्यात है। क्रिया तथा गुण से ही हम द्रव्य के द्रव्यरूप को लक्ष्य करते हैं। कोई भी द्रव्य क्यों न हो, उसका क्रिया, गुण अथवा धर्म निश्चय है। भर्तृहरि कहते हैं कि साध्य तथा साधन परस्पर नियत हैं। जैसी रूपाभिव्यक्ति में जैसा साधन प्रयोज्य है, जिस भाव के सिध्यर्थ जैसे पूर्वापरीभूत अवयव के परिस्पद (Vibratory Motion) का मेलन है, उसमें संघात, पिण्डीभाव (Aggregation) आवश्यक है। यह भी निश्चित है।

दर्शन तथा परीक्षा द्वारा द्रव्यसमूह की क्रिया तथा गुणतत्व से अवगत होकर लोक में वाक्य द्वारा उसका प्रकाश किया जाता है। 'यह यह है' 'यह नहीं है' इस वाक्य का तात्पर्य है कि "यह द्रव्य इन गुणों से युक्त है।" "यह इस प्रकार की क्रिया कर सकता है।" अथवा "यह इन गुणों से युक्त नहीं है।" "यह इस प्रकार की क्रियाकारिणी योग्यता से रहित है।" अलंकारशास्त्र वाक्य का लक्षण करते समय कहता है—"योग्यता, आकांक्षा तथा आसक्तियुक्त पदसमूह है वाक्य।" योग्यता किसे कहते हैं? पदार्थसमूह के परस्पर सम्बन्ध में बाधाभाव का नाम है योग्यता। सिद्धान्त मुक्तावलीकार कहते हैं कि एक पदार्थ में अन्य पदार्थ का जो सम्बन्ध है उसका नाम है योग्यता। महर्षि कपिल इसी योग्यता को आप्ति कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य ही निर्दिष्ट योग्यतायुक्त है। यह द्रव्य की योग्यता ही आप्ति पदार्थ है। वह्नि एक द्रव्य है। दहन, आणविक संसर्ग, शक्ति का शिथिलीकरण, इसकी आप्ति योग्यता है। 'वह्नि दाहक है', 'वह्नि के संयोग से जल वाष्पाकार में परिणत होता है।' ये सब यथार्थ वाक्य हैं। किन्तु 'वह्नि द्वारा स्नान करता है' 'वह्नि देह को स्निग्ध करता है' ये यथार्थ वाक्य नहीं है।[1]

श्रुति कहती है कि मनः शब्द द्वारा वही अभिव्यक्त होता है। मनः वाक् अथवा शब्द का पूर्वभाव है।[2] विषयेन्द्रिय सन्निकर्ष के कारण जो क्रिया होती है, उसका संस्कार हमारे चित्त में संलग्न हो जाता है। चित्त में जो भावित अथवा वासित

---

1. 'वाक्यं स्यात् योग्यताकाङ्क्षाशक्तियुक्तपदाश्रयः' —*साहित्यदर्पण*
'एकपदार्थेऽपरं पदार्थ सम्बन्धोयोग्यतेत्यर्थः।' —*सिद्धान्त मुक्तावली*
'आप्तोपदेशः शब्दः' कपिलभाष्य इस कपिलसूत्र के भाष्य में विज्ञानभिक्षु कहते हैं— 'आप्ति' शब्द यहाँ योग्यतावाचक है। योग्यशब्द जन्य ज्ञान ही सांख्यमत से शब्दाख्य प्रमाण है। 'आप्तिरत्र योग्यता...तथा च योग्यशब्द स्तज्जन्यं ज्ञानं शब्दाख्यं प्रमाणमित्यर्थः।'
—*सांख्यप्रवचन भाष्य*
2. मनस्तत्पूर्वं वाची युज्यते मनो हि पूर्वं वाचो यदि मनसाभिगच्छति तद्वाचा वदति।
—*ताण्ड्यमहाब्राह्मण*

होता है, उसे चित्त का भाव कहते हैं। मनोगत भाव अथवा भावनाख्य संस्कार (Impression-Ideas) समान पदार्थ है। शब्द द्वारा मनोगत भाव प्रकटित होता है। अतएव शब्द वास्तव में वस्तुसमूह का मन द्वारा अवगत किये गये धर्मसमूह का वाचक है। मनुष्य प्रत्यक्षादि प्रमाण से जो ज्ञान अर्जित करता है, उसे अन्य को बताने के लिए वैखरी शब्द का व्यवहार करता है। जिस धर्मी का जो धर्म है, जिस वस्तु की जो आप्ति है, जो योग्यता है, वह नियत अथवा स्थिर है। मनुष्य का प्रत्यक्ष यदि यथायथ रूप से निष्पन्न होता है, यदि प्रत्यक्ष में कोई दोष नहीं है, तब मनुष्य विशुद्ध वाक्य का व्यवहार कर सकता है। प्रत्यक्ष में दोष रहने से वाक्य विशुद्ध नहीं होता।

प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा हम जो ज्ञान अर्जित करते हैं, उसका स्वरूप है 'यह यही' अथवा 'यह नहीं'। इन वाक्यद्वय के तात्पर्य का चिन्तन करने से हम समझ सकते हैं, 'यह' परिदृश्यमान पदार्थ 'यही' अमुक पदार्थ के समान है अथवा असमान है। महर्षि कणाद कहते हैं कि साधर्म्य-वैधर्म्य विचार ही तत्वज्ञान का जनक है। जिन वस्तुद्वय में सादृश्य लक्षित होता है, उन्हें हम समीकृत करते हैं। जिसमें वैसादृश्य लक्षित होता है उनकी अवधारणा व्यावृत्त रूप से करते हैं। उत्पत्तिशील ज्ञान के स्वरूप का चिन्तन करने से स्पष्टत: प्रतीति होती है कि यह साधर्म्य-वैधर्म्य (Identity and Difference) विचारमूलक है।

पहले कहा गया है कि इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के कारण जो सब हम प्रत्यक्ष (क्रिया को) करते हैं, उन क्रियाओं की अनुभूति का उपराग हमारे चित्त में संलग्न हो जाता है। जिस शक्ति द्वारा चित्त में अनुभूति क्रिया का भाव संलग्न होता है, चित्त में उस शक्ति को धृति शक्ति (The Power of Retention) कहते हैं। विवेचन-व्यवकलन समीकरण तथा संकलन-सन्धारण (Discrimination, Identification, Retention), उत्पत्तिशील ज्ञान का यह त्रिविध कारण है। प्रत्येक प्रात्यक्षिक व्यापार की निष्पत्ति में हम विवेचन शक्ति का प्रयोग करते हैं। अतीत संवेदन से व्यावर्तित-विवेचित न किये जाने पर वर्तमान संवेदन कभी भी लक्षीभूत नहीं होता। चित्त की एक अवस्था से अवस्थान्तर की प्राप्ति ही अथवा परिवर्तन ही वृत्ति के अधीन का ज्ञान है। चित्त निरन्तर विवेचन क्रिया में निरत रहता है। वह निरन्तर अतीत अनुभूति से वर्तमान अनुभूति को भले ही पृथक् करता है, किन्तु यदि यही विवेचन चित्त का एकमात्र धर्म होता, तब विज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती। ऐसी स्थिति में मानव पश्वादि इतर जीववृन्द से किसी अंश में विशिष्ट जीवरूप में परिगणित नहीं होता। ऐसी स्थिति में मानव में भविष्य दर्शन (Prevision) न रहता। एकरूप अनुभूति से अन्यरूप अनुभूति की विवेचना द्वारा निषेधात्मक ज्ञान की उत्पत्ति होती है। 'यह उससे भिन्न है।' 'यह वह नहीं है', विवेचन तथा पृथक्करण द्वारा हम केवल यही जान पाते हैं। शुद्ध विवेचन शक्ति विशिष्ट चित्त में प्रत्येक संवेदन अनन्य सम्बन्ध भाव से अवस्थान करता है। संवेदन समूह को नि:श्रेयणी के समान परस्पर

सम्बद्ध करता है। शुद्ध विवेचन शक्तियुक्त चित्त में 'यह' रूप कोई पदार्थ विद्यमान नहीं रहता। अतीत के साथ वर्तमान तथा भविष्यत् को सम्बद्ध करने वाली कोई निः श्रेयणी हिताहित विवेकक्षम लोकालोकदर्शी मानव चित्त में नितान्त प्रयोजनीय है। जिस शक्ति द्वारा मानव भिन्न-भिन्न भाव में उपस्थित संवेदन समूह का समीकरण कर पाता है, वही है समीकरण शक्ति।

अतएव सर्व प्रकार के सम्प्रत्यय अथवा विज्ञान के मूल में चित्त की विवेचन तथा समीकरण शक्ति का धर्म अथवा अवस्थाव्यञ्जक अनुवृत्ति-व्यावृत्ति न्याय से प्रतिष्ठित है। विज्ञान के सारभूत ये दोनों न्याय साधारणतः अन्वयीन्याय (The Law of Identity), व्यतिरेकी न्याय (The Law of Contradiction) तथा अन्वय व्यतिरेकी (दोनों युक्त) द्वैत न्याय (The Law of Duality) रूप से अभिहित होते हैं। किसी पदार्थ के अनुभूति तत्व का मनन करने के लिए इन दोनों न्याय का स्वरूप हृदयंगम होना आवश्यक है।[1]

ब्राह्मणादि वर्णभेद का तत्व तथा नीचोत्तम तत्व निर्धारण करने के लिए विविध विद्या विवर्तनरत, सत्यसन्ध, प्रजा-वत्सल राजा का जो यत्न है, वह सदुद्देश्यमूलक है, वह सुराजोचित है। यह हमारी प्रतिज्ञा (Proposition) है। इस प्रतिज्ञा के साधनार्थ हमने राजा तथा प्रजा, आधुनिक विज्ञान तथा शास्त्रांकित प्रतिकृति के रूप का वर्णन किया है। राजा तथा प्रजा की प्रतिकृति के रूप-वर्णन का प्रयोजन क्या है? हमारे साधनीय अर्थ के साथ राजा तथा प्रजा की प्रतिकृति का क्या सम्बन्ध है?

राजा कौन पदार्थ है? प्रजा पदार्थ के साथ राजा का क्या सम्बन्ध है। यह निश्चित होने से प्रजा के प्रति राजा के व्यवहार असद्भिप्रायमूलक होते हैं या नहीं, यह प्रमाणित होगा। हमने इसीलिए राजा तथा प्रजा की प्रतिकृति का रूप-वर्णन किया है। प्रत्येक पदार्थ का निश्चित धर्म या योग्यता है। जिस पदार्थ का जो धर्म अथवा योग्यता है, उस पदार्थ का वही अर्थ है। राजन् एक नाम पद (Subject) है। इस नाम पद की आप्ति (Inherence) अथवा योग्यता क्या है? यह विदित होते ही किसी-किसी पद के साथ राजन् शब्द का अबाध सम्बन्ध हो सकता है। 'राजन्' रूप अभिधान के योग्य अभिधेय (Predicate) क्या है, यह निर्णीत होगा।

राजा तथा प्रजा की विज्ञानांकित तथा शास्त्रांकित प्रतिकृति का रूप-वर्णन क्यों किया गया? विज्ञान-दृष्टि से यह अविकल तत्तद्रूप में ज्ञात नहीं होता। हमने

---

1. अनुवृत्तबुद्धिः सामान्यस्य व्यावृत्तबुद्धिर्विशेष—वैशेषिक उपस्कार ग्रन्थ। न्यायत्रय, अन्वय व्याप्ति-व्यतिरेक व्यप्ति तथा उभयात्मक व्याप्ति की विवेचना को याद करें। पाश्चात्य न्यायशास्त्र ने इन त्रिविध न्याय को अनुमान के तत्वरूप में ग्रहण किया है।

The principles of inference are the axioms of identity and correspondence of contradictory disjunction (or of contradiction and excluded third) and of sufficient reason.

— *System of Logic*, Ueberweg, Page 228

इसीलिए उक्त पदार्थद्वय की विज्ञानांकित तथा शास्त्रांकित प्रकृति का रूप-वर्णन आवश्यक माना था।

विज्ञानांकित प्रतिकृति के रूप-वर्णन में प्रवृत्त होने के पहले विज्ञान (Science) कौन पदार्थ है, विज्ञान के अभिधेय क्या हैं, वैज्ञानिकगण विज्ञान की कितनी श्रेणी करते हैं, हमने यथा ज्ञान यह बतलाने का प्रयत्न किया है। राजा तथा प्रजा को शास्त्र ने जिस दृष्टि से देखा है, उस दृष्टि से विज्ञान ने इसे देखने का प्रयत्न नहीं किया है। इसका कारण जानने के लिए राजा तथा प्रजा की विज्ञानांकित प्रतिकृति के साथ शास्त्रांकित प्रतिकृति का सर्वांश में सादृश्य न रहने का हेतु क्या है; इसे जानने के लिए विज्ञान के स्वरूप-दर्शन का प्रयोजन था।

यहाँ यह भी ज्ञात हो गया कि कार्यकारण सम्बन्ध निर्णय विज्ञान का कार्य है। कार्यकारण सम्बन्ध ज्ञान जब गणित की सहायता से निर्णीत होता है, देशतः तथा कालतः अथवा संख्यातः परिच्छिन्न होता है, तभी परिपुष्ट तथा विशुद्ध विज्ञान का आविर्भाव होता है।

ज्ञानमात्र ही प्रत्यक्ष से जन्मलाभ करता है। दर्शन तथा परीक्षा से ही विज्ञानोदय होता है। उत्पत्ति वृध्यादि भाव विकारात्मक ज्ञान प्रत्यक्षादिप्रमाण से आविर्भूत होता है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु प्रश्न उठता है कि ज्ञानमात्र ही प्रत्यक्ष से जन्म लेता है, यह बात सुनकर क्या ज्ञानोत्पत्ति विषयक जिज्ञासा विनिवृत्त होती है? हमारा विश्वास है कि ज्ञानसम्बन्ध में शास्त्र से जो उपदेश मिलता है, उसके द्वारा तत्वजिज्ञासु हृदय विशेष तृप्ति प्राप्त करता है। प्रत्यक्षादिप्रमाण विकारात्मक ज्ञान का निमित्त कारणमात्र है।

विज्ञान के श्रेणीभाषा सम्बन्ध में वैज्ञानिकों में मतभेद है अमर सिंह (अमर-कोषकर्ता) ने मोक्षोपयोगी बुद्धि को ज्ञान तथा तदन्यफलिका शिल्प (Art) तथा शास्त्र (Material Science) विषयक बुद्धि को विज्ञान कहा है।[1] अमर सिंह ने ज्ञान तथा विज्ञान का जो लक्षण कहा है, उससे हम कह सकते हैं कि विदेशी विद्वान् साधारणतः शिल्पी तथा वैज्ञानिक होने पर भी यथोक्तलक्षण ज्ञान के पिपासु नहीं हैं। शुक्राचार्य ने नीतिशास्त्र में विद्या तथा कला का लक्षण बताते समय कहा है कि जो सब कर्म वाचिक, वाङ्निष्पाद्य है, उसे विद्याभिसंज्ञक कहते हैं। वह विद्या नाम से उक्त है तथा मूक भी, वर्णोच्चारण में अपटु व्यक्ति भी जिस कर्म को करने में समर्थ है, उसे कला कहा जाता है। विद्या अनन्ता है, तथा कला की भी संख्या का निरूपण असाध्य है। संक्षेपतः 32 विद्या तथा 64 कला की गणना की गयी है। चारों वेद तथा आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद तथा तन्त्र, ये चार उपवेद हैं। शिक्षा आदि वेद के 6 अंग हैं। मीमांसादि छः दर्शन हैं। इतिहास, पुराण, स्मृति, नास्तिकमत, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, शिल्प, अलंकार, काव्य, देशभाषा, अवसरोक्ति (शास्त्रीय

1. मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः। — *अमरकोष*

संकेत रहित कार्यसाधिका, अर्थबोधिका, यथा कालोचित वाक्) यावन मत एवं देशादि प्रचलित धर्म, शुक्रनीति सार में ये 32 विद्याएँ कही गयी हैं।[1]

नास्तिक मत किसे कहते हैं? जिसे बताने के लिए शुक्राचार्य कहते हैं कि युक्ति ही इस मत में बलीयसी है। सभी वस्तु स्वभावसिद्ध है। ईश्वर किसी कार्य का कर्ता नहीं है। वेद अकिंचित्कर है। इस मत की यह व्यवस्था है। इसे नास्तिक मत कहा है। शुक्राचार्य ने 64 कलाओं के स्वरूप-निरूपणार्थ जो कुछ कहा है उसे पढ़ने से वैदिक आर्यजाति की कला सम्बन्धित उन्नति का विशेष परिचय मिलता है। सर विलियम जोन्स, रायल प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों ने भारतवर्ष की कला की भूयसी प्रशंसा की है। यहाँ तक कि वर्तमान सुसभ्य कलाशास्त्र निपुण व्यक्तिगण भी प्राचीन लोगों से अधिक उन्नति नहीं कर सके।[2]

आधुनिक वैज्ञानिकों में आस्तिक तथा नास्तिक मतद्वय प्रचलित हैं। नास्तिक वैज्ञानिकगण भूत, भौतिक शक्ति इन शक्तियों के इतरेतर सम्बन्ध तथा शक्ति सातत्य के अतिरिक्त किसी पदार्थ का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। भगवान् पाणिनि तथा पतंजलि देव ने आस्तिक तथा नास्तिक शब्दों का अर्थ करते समय कहा है कि जो परलोक के अस्तित्व में विश्वास रखते हैं, वे आस्तिक हैं। जो इसके विपरीत मति हैं, इसी लोक को सत् तथा परलोक, पुनर्जन्म आदि को कवि की कल्पनामात्र मानते हैं, वे नास्तिक हैं।[3] आधुनिक वैज्ञानिकों में से अनेक ने परलोक के अस्तित्व पर विश्वास नहीं किया है। वे पूर्वकर्म नहीं मानते, अतीन्द्रिय पदार्थों के सम्बन्ध में इनका मत है कि वह सत् नहीं है। यदि सत् है भी तो उसमें इन पदार्थों का तत्वानुसंधान पशुश्रम-मात्र है। राजा तथा प्रजा की विज्ञानांकित प्रतिकृति के साथ इसलिए उनकी शास्त्रांकित प्रतिकृति का सर्वांश में सादृश्य असम्भव है। जो भी हो, अब यह कहना है कि उक्त पदार्थद्वय की विज्ञानांकित प्रतिकृति हमारे उद्देश्य की सिद्धि में कितने अंश में सहायक हो सकती है?

हेगेल प्रभृति विद्वान् कहते हैं कि ज्योतिषिक दृष्टि, भौतिक समाज यह मानव

---

1. यद् मत् स्यात् वाचिकं सम्यक् कर्म विद्याभिसंज्ञकम्। शक्तोमूकोऽपियत्कर्त्तुं कलासंज्ञस्तु तत् स्मृतम्। —*शुक्रनीतिसार*
   तथा युक्तिर्बलीयसी यत्र सर्वं स्वाभाविक मतम्। कस्यापि नेश्वर कर्त्ता न वेदो नास्तिकं हि तत्। —वही
2. Abdul Fazal had been assured that the Hindu reckoned three hundred arts and science; now their sciences being comparatively few we may conclude they anciently paractised atleast as many useful arts as overselves. — Jones, 10th discourses.
   विशप हेवर (Heber)ने भी यही कहा है।
3. अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः —*पातंजल दर्शन* 4/4/60
   अस्तीत्यस्य मति अस्तिकः नास्तीत्यस्य मतिर्नास्तिकः —*महाभाष्य*
   परलोकोऽस्तीति मतिर्यस्य स आस्तिकस्तद्विपरीतो नास्तिकः। —*कैयट*

समाज का पूर्व सूत्र है। राजा तथा प्रजा की प्रतिकृति समाजविज्ञान तूलिका द्वारा अंकनीय है। समाजविज्ञान, भूततंत्र, रसायनशास्त्र, गणित तथा जीवविज्ञान प्रधानतः ये चार विज्ञानशाखा से सम्बद्ध हैं। विद्वान् वेलर स्वप्रणीत ग्रन्थ Human Physiology में कहते हैं कि शरीरविज्ञान, शरीर संस्थान विद्या (Anatomy), भूततन्त्र (Physics) तथा रसायनशास्त्र (Chemistry) की समष्टि है। इसी कारण हमने राजा तथा प्रजा की विज्ञानांकित प्रतिकृति का रूप-वर्णन करने में इन सब विज्ञान की सहायता ली है। विद्वान् अगस्त कामट समाजविज्ञान को सामाजिक भूततन्त्र (Social Physics) कहते हैं।

भूततन्त्र वाले भूत (Matter) तथा आकर्षण-विकर्षण इन दो शक्तियों के तत्व-निरूपण का प्रयत्न करते हैं। भूततन्त्र तथा रसायनतन्त्र ने आकर्षण-विकर्षण को सर्वप्रकार भौतिक तथा रासायनिक परिणाम के कारण रूप से अवधारित किया है। हमारी धारणा है कि आकर्षण-विप्रकर्षण तथा भौतिक पदार्थ के स्वरूप सम्बन्ध में वैज्ञानिक आज भी स्थिर सिद्धान्त नहीं बना सके हैं। हमारी धारणा यह है कि यह स्वकपोल कल्पित नहीं है। वैज्ञानिकों के वचन सहाय्य से हमने उसका प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया है। जो इन्द्रियग्राह्य नहीं है, उसका अस्तित्व नास्तिक वैज्ञानिक नहीं मानते। यह अन्वेषण परीक्षण भी नहीं करते कि अतीन्द्रिय पदार्थ सत् है अथवा असत्। नास्तिक वैज्ञानिक इसी प्रकार का मत लेकर जीवन व्यतीत करते हैं।

जड़वाद में ज्ञाता तथा ज्ञेय (Object or Thought) दोनों ही भूत-भौतिक शक्ति का विकार है। उनके मत से भूत तथा भौतिक शक्ति ही ज्ञेय है। वही ज्ञान का प्रसव करती है, वही ज्ञाता भी है। अमूर्त भौतिक पदार्थ से प्रज्ञान सम्पदन्न मनुष्यादि जीवपर्यन्त सभी पदार्थ ही अनन्यापेक्ष यान्त्रिक कारण संभूत हैं। यही जड़वाद का सिद्धान्त है।[2] भूततन्त्र कहता है कि परमाणुसमूह आकर्षण शक्ति के प्रभाव से परस्परतः संहत होकर सम्मूर्च्छितावयव हो जाते हैं। जड़वादात्मक समाजविज्ञान भी "उपमान प्रमाणाश्रय से परमाणुओं की संहति जिस कारण से होती है उसी कारण से मनुष्य समाजशरीर की भी संहति होती है," इस मत के स्थापनार्थ उद्यत हैं। जड़वादी वैज्ञानिक यह स्वीकार नहीं करते कि परमाणुओं की संहति में किसी नियामक शक्ति का कारणत्व है। जड़वादी समाजविज्ञान कुशल विद्वान् भी समाजशरीर गठन में जड़ आकर्षण शक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी कारण से क्रिया निवर्तकत्व है, इसे भी नहीं मानते। ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किये बिना नैहारिक सिद्धान्त की उपपत्ति नहीं होती। यह संक्षेप में विवेचित है। वैज्ञानिकों में जो

---

1. All materialistic explanations involve the vicious circle, that matter which is the object of thought is that which produces thought. To make thought a function of matter is this simply, to make thought a function of itself. — *Philosophy of Religion* by J. Carid
2. Ibid

आस्तिक हैं, वे ईश्वर के नियामकत्व का अभ्युगमन करते हैं। नास्तिक वैज्ञानिकों में से बहुश: व्यक्ति ऐसे हैं जो अपने मत में स्थिरता से अवस्थान करने में सफल नहीं हो सके। हमने इसे सप्रमाण कहने का यत्न किया है।

डारविन, स्पेन्सर आदि विद्वानों का कथन है कि ईश्वर-विश्वास का उदय मानव की अर्द्धसभ्यावस्था में हुआ था। बात उचित नहीं है। बोध होता है अनेक ने इसे स्वीकार भी किया है। आधुनिक वैज्ञानिक दार्शनिक में अनेक ईश्वर में विश्वास तक स्थापित नहीं कर सके। अनेक तो विश्वास-स्थापन किये बिना नहीं रह सके। शास्त्रोपदेश है कि प्रतिभाभेद ही मत के भेद का कारण है। चिरकाल से नास्तिक तथा आस्तिक हैं। वे चिरकालपर्यन्त रहेंगे, फिर भी युगभेद से इनकी संख्या में ह्रास-वृद्धि होती रहती है। वेदादिशास्त्र का कथन है कि ईश्वर ही विश्व का राजा है। वही जगत् को धारण करता है। ईश्वर धर्म के द्वारा ही जगत् को धारण करता है। पार्थिव (मानव) सम्राट् जैसे भिन्न-भिन्न योग्य व्यक्तियों को पृथक्-पृथक् स्थान का शासन-भार देता है, विश्व सम्राट् भी भिन्न-भिन्न योग्य पुरुषों को स्वर्गादि लोकत्रय का शासन-भार प्रदान करता है। अत: हम जिनको राजा कहते हैं, वे वास्तव में उन ईश्वर के राजप्रतिनिधि हैं। राजप्रतिनिधि को राजा के समान सम्मान दिया जाता है। इसीलिए शास्त्र ने राजा की देवता ज्ञान से पूजा का विधान किया है। राजविद्रोह अनिष्टकारक माना गया है। राजा को इन्द्रादि देवगण के अंश से उद्भूत माना गया है, इसी कारण से इस प्रसंग में इन्द्रादि देवों के स्वरूप के सम्बन्ध में विवेचना की गयी है।

क्या इन्द्रादि देवगण वास्तव में सत् पदार्थ हैं? इसमें सन्देह का लेश नहीं है। प्रमाण क्या है? प्रत्यक्ष अथवा वेद ही इनके अस्तित्व का प्रमाण है। शास्त्र ने वेद को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा है। ताड़ित के अस्तित्व का क्या प्रमाण है? ताड़ित का अर्थ-क्रियाकारित्व ही उसके अस्तित्व का प्रमाण है। वह तो सर्वत्र विद्यमान है, फिर भी सर्वत्र ताड़ित परिलक्षित क्यों नहीं होता? ताड़ितशक्ति वास्तव में प्रक्रिया विशेष से अभिव्यक्त होती है। अन्यथा इसका अस्तित्व अभिव्यक्त नहीं होता। देवता हैं अथवा नहीं, जानने के लिए उस-उस मन्त्र-यन्त्र से उनका आह्वान किया जाता है। कैसे मन्त्र-यन्त्र द्वारा उनका आवाहन करना होता है? वेद-पाठ से वह विदित हो जाता है। अब तो अनेक लोग वेदाध्ययन करते हैं। वेदाध्ययन तो अब कठिन नहीं है। मोक्षमूलर प्रभृति विद्वानों ने वेद का अनुवाद तक किया, तथापि वे देवदर्शन में क्यों असमर्थ हैं? देवता के अस्तित्व में उनको विश्वास क्यों नहीं होता? उन्होंने वेद को बालकत्वपूर्ण क्यों कहा?

ऑक्सीजन तथा हाइड्रोजन के संयोग से जल उत्पन्न होता है, यह रसायनतंत्र के पाठ से ज्ञात हो जाता है। यदि कोई जो मात्रा से अनभिज्ञ है, अशिक्षित तथा अकर्मकुशल है, जल प्रस्तुत करने के लिए उद्यत हो, तब तो रसायनशास्त्र में अश्रद्धा हो जायेगी और उसका बनाया सिद्धान्त होगा कि रसायनशास्त्र मिथ्या है। मोक्षमूलर आदि के हृदय में देवता रह ही नहीं सकता। उनकी प्रतिभा में यह है कि स्थूलप्रत्यक्ष

के अतिरिक्त पदार्थ का अस्तित्व नहीं है, अतएव वे वेद के आदेशानुसार देवता का आवाहन यथानियम कैसे कर सकते हैं? अर्धसभ्य वैदिक कवियों ने भय से, विस्मय से, कार्य में कारणानुसंधिनी प्रकृष्ट बुद्धि के अभाव में इन्द्रादि देवों का आवाहन किया। उनके अस्तित्व में विश्वास-स्थापन किया, उनके अस्तित्व में विश्वास स्थापित किया, ऐसी धारणा वेदोक्त संस्कारविहीन, आत्म संस्कारविहीन व्यक्ति के मन में आना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि आत्मसंस्कृत यजमान द्वारा कृत जीवात्मा का संस्करण है, यही है देवशिल्प। आत्मसंस्कार रूप शिल्प द्वारा यजमान की जीवात्मा वेदमय हो जाती है। वेद का वास्तविक अर्थ विदित हो जाता है। वेद का प्रकृत दर्शन करने के लिए यह आत्म संस्कार आवश्यक है। जिनकी जीवात्मा संस्कृत है, वे यथायथ रूप से मन्त्रोच्चारण में तथा उसका अर्थ जानने में समर्थ हो जाते हैं। भगवान् यास्क कहते हैं कि देवगण को भी यथायथ रूप से पुकार सकने से वे उत्तर देते हैं। निकट आकर वांछित फल प्रदान करते हैं। तब भी यथायथ रूप से आवाहन करना आवश्यक है। यथायथ भाव से आवाहन न करने से इष्टसिद्धि नहीं होती। देवता का दर्शन नहीं मिलता। वेदभक्त, वेदप्राण, संस्कृत आत्मा वाले ऋषिगण वेदमन्त्र द्वारा आवाहन करके देवगण का दर्शन पाते हैं। इसी कारण वे वेद के प्रति अचल श्रद्धा रखते हैं। इसी कारण साक्षात्कृतधर्मा ऋषिगण अवर लोगों के लिए मन्त्र-व्याख्या करके उनको वेद के प्रति श्रद्धावान् होने के लिए कहते हैं।[1] यथोक्त शास्त्रोपदेश से अब कितने लोग को श्रद्धा हो सकी है? जीवात्मा के संस्कार के बिना शास्त्र के प्रति श्रद्धा नहीं हो सकती।

जो भी हो, राजा प्रजा का अनिष्टाचरण नहीं कर सकता, सुशीतल जल से कोई नहीं जलता। जो प्रकृति अथवा प्रजा का रंजन करते हैं, जो प्रजापालनार्थ ईश्वर से प्रतिनिधिरूपेण प्रेरित हैं, क्या वे कभी प्रजा का अहित कर सकते हैं? प्रश्न उठता है क्या कभी भी प्रजापीड़क राजाओं ने पृथ्वी को कलुषित नहीं किया? क्या इतिहास में ऐसे राजाओं का उल्लेख नहीं है?

मानव श्रीहीन होने पर भी, दारिद्र्य से पीड़ित होकर भी अथवा शोकतप्त होकर भी, यदि माँ कहकर घर में प्रवेश करता है, तब उसके समस्त दुःख दूर हो जाते हैं, शोक भी दूर हो जाता है। जब मनुष्य को मातृवियोग होता है, तभी वह दुःखी होता है। तब उसके लिए सारा संसार सूना प्रतीत होने लगता है। माता के समान सन्तापहारी, सर्वसुख देने वाली कोई नहीं है।

---

1. मनुष्यवद्देवताभिधानं पुरुपविधानित्यत्वात् कर्म सम्पत्तिर्मन्त्री वेदे। —*निरुक्त*
तेऽपि हि मनुष्यवद्देवा अङ्गादियुक्ताः पौरुपविधिकैरङ्गैः कर्मभिश्च संस्तूयन्त इति हि वक्ष्यति तस्मादुपपद्यते मनुष्यवद्देवताभिधानामिति।—*निरुक्त टीका*
भगवान् पतंजलिदेव कहते हैं कि स्वाध्यायशील पुरुष की प्रार्थना के अनुसार देव-ऋषि तथा सिद्धपुरुष दर्शन देते हैं। उसका कार्य-सम्पादन करते हैं। मन्त्र की सिद्धि देवों को आकर्षण करने वाली शक्ति है। —द्रष्टव्य *पातंजल दर्शन*, सा०पा० सूत्रम्

प्रकृति के समान आश्रयदायिनी स्थान माँ के समान कोई नहीं है। किन्तु मात्र गर्भधारिणी ही माँ नहीं होती। जो वास्तव में माँ हैं, वे ही माँ हैं। माँ कौन हैं? जो विश्व-जननी हैं, त्रितापहारिणी हैं, जो दुर्गतिनाशिनी अदिति हैं, वे ही प्रकृत जननी हैं। वे ही वास्तव में माँ हैं। वे ही पिता-पुत्र-बन्धु भ्राता-भागिनी-गुरु-राजा तथा प्रजा हैं। विश्वजननी सर्वव्यापिनी सर्वत्र विराजमाना होने पर भी आधार तथा उपाधिमालिन्यता के कारण सर्वत्र प्रकट नहीं होतीं। जो आधार शुभ्र है, शुक्ल कर्म के कारण जो आधार स्वच्छ है, सत्वप्रधान विश्वजननी उसी आधार पर प्रकट होती हैं। विश्वजननी जिस आधार पर जिस परिमाण में प्रकटित होती हैं, उस आधार में उसी परिमाण में मातृत्वादि धर्म का विकास होता है। जो राजा प्रजापीड़क है, वह वास्तव में राजा नहीं है। वह परपीड़क है। शास्त्र ने इसी कारण राजा में देवताज्ञान किया है। इस विवरण से वह हृदयंगम हो जायेगा। प्रजापीड़न तथा प्रजा का अनिष्ट-साधन करने वाले में राज पदवाच्य अर्थ की योग्यता नहीं है।

राजधर्म पालन न करने से अविनय आदि संयुक्त राजा राजपद से भ्रष्ट होता है। विश्व सम्राट् उस राजा से, उसके कुल से राज्य छीन लेते हैं। कितने राजा इस प्रकार राजभ्रष्ट हो गये हैं। वेन, नहुष, यवनपुत्र सुदास, सुमुख, निमि सभी अविनय-दोष से विनष्ट हो गये। पृथु तथा मनु शास्त्रोपदिष्ट विधिपालन तथा विनय-बल से राज्यारूढ़ हो गये। कुबेर विनय के कारण धनस्वामी कहे जाते हैं। गाधिपुत्र विश्वामित्र[1] क्षत्रिय होने पर भी इसी जन्म में दुर्लभ ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो गये।

महाभारत में कहा है कि ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्व तथा शूद्र, इस वर्ण चतुष्टय के सभी धर्म का रक्षण राजा का कर्त्तव्य है। क्योंकि धर्मसंकर होने से रक्षा करना भी राजा का ही सनातन धर्म है।[2] हमारे प्रजावत्सल शासक सनातनराजधर्मपालन में प्रयत्नशील होकर इस सु राजोचित कर्म को निःसंदिग्ध रूप से करें, यह कहना है।

●

1. बहवोऽविनयान्नष्टा राजानः सपरिच्छदाः।
   वनस्था अपि राज्यानि विनयात् प्रतिपेदिरे॥ —*मनुसंहिता*
   जिज्ञासा होती है कि भगवान् मनु विनय शब्द से यहाँ क्या लक्ष्य कर रहे हैं? मेधातिथि कहते हैं कि विनय शब्द यहाँ षाड्गुण्य प्रयोग, अप्रमाद, अभिव्ययवर्जन, अलोभ इत्यादि नीतिसमूह का वाचक नहीं है। विनय शब्द यहाँ शास्त्रीय विधान तथा लोकाधार का वाचक है। शास्त्र कहते हैं कि तप के द्वारा जन्मान्तर में जात्युत्कर्ष प्राप्ति होती है। किन्तु विश्वामित्र की ब्राह्मणत्वप्राति इसी जन्म में हो गई।
   शास्त्रे च तपस्या जात्युत्कर्षो जन्मान्तरे प्राप्यत इति विहितमेव। विश्वामित्रस्य ब्राह्मण्यस्तु तस्मिन्नेव जन्मनि क्षत्रियस्यसूत इत्याख्यातमेव। —*मेधातिथि*
2. चातुर्वर्णस्य धर्माश्च रक्षितव्या महीक्षिता।
   धर्मसंकर रक्षा च राज्ञा धर्मः सनातनः॥ —*महाभारत*, शान्तिपर्व, अध्याय 57
   धर्माणां संकरोव्यत्ययस्तस्मात् प्रजानां रक्षा धर्मसंकर रक्षा। —*नीलकण्ठकृत टीका*

परलोक तत्त्व

लेखक

भार्गव शिवरामकिंकर योगत्रयानन्द

(पूर्वनाम : शशिभूषण सान्याल)

अनुवादक

एस०एन० खण्डेलवाल

परमश्रद्धेय पद्मविभूषण डॉ० पं० गोपीनाथजी कविराज के सान्निध्य में उनके निवास पर अनेक बार ग्रन्थकार श्री श्री शिवरामकिंकर योगत्रयानन्दजी की चर्चा सुनने का अवसर उनके श्रीमुख से प्राप्त हुआ था। वहाँ की चर्चा से प्रेरणा प्राप्त करके 'कल्याण' के मासिक अंकों तथा विशेषांक में भी प्रात:स्मरणीय ग्रन्थकार के स्फुट किन्तु सारगर्भित लेखों को पढ़ने का भी सौभाग्य मिला। तभी उस किशोरावस्था से ही संस्कार में ग्रन्थकार के प्रति एक आकर्षण तथा आदर के भाव बीजरूप से अपना स्थान बना चुके थे, जिसने पादप रूप लेकर इस अकिंचन द्वारा 'आर्यशास्त्र प्रदीप' जैसे दुरूह, अत्यन्त सारगर्भित ग्रन्थ के चार खण्ड के हिन्दी अनुवाद के रूप में आत्म-प्रकाश किया। उक्त ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में ग्रन्थकार की परमपावन जीवन-गाथा का भी अंकन किया है, जिसे बंगाल के कई अंचलों की यात्रा करके वहाँ से तथ्य संकलित करके वाङ्मय रूप दिया गया। भक्त की गाथा भी राम की ही गाथा है। दोनों अभिन्न जो हैं। इसे मैं अपना चरम सौभाग्य मानता हूँ।

इसी तारतम्य में उन शिवस्वरूप ग्रन्थकार के ग्रन्थ 'परलोक तत्त्व' के अनुवाद-कार्य में भगवती ने नियोजित किया है। ग्रन्थ के अनुवाद-कार्य में प्रवृत्त होने के पूर्व ग्रन्थकार के जीवन तथा उपलब्धि से सम्बन्धित कुछ तथ्य देना आवश्यक है। ग्रन्थकार जिनका पूर्वनाम शशिभूषण था, इनका जन्म 1858 ई० में हुआ था। अत्यल्प वयस में ही शिवरामानन्दजी की कृपा प्राप्त करके इनका जीवन धन्य हो गया। गुरु के तिरोधान के उपरान्त इन गुरुभक्त महापुरुष ने अपना नाम ही शिवरामकिंकर रख लिया। मनीषा, प्रज्ञा तथा योगशक्ति के विस्मयकारी समाहार के कारण लोग इनको योगत्रयानन्द कहने लगे। कर्म-भक्ति तथा ज्ञान का ऐसा अपूर्व मणिकांचन संयोग कदाचित् ही देखने को मिलता है। इन्हें वेद-मन्त्रों से

चिकित्सा करने की अपूर्व सिद्धि की प्राप्ति हुई थी। इन्होंने दीर्घकाल-पर्यन्त काशी में भी निवास किया था। साहित्य सम्राट् बंकिमचंद्र चटर्जी, स्वामी विवेकानंद, महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज इन्हें गुरुवत् मानते थे। त्याग, तपस्या, अगाध ज्ञानयुक्त इन महापुरुष का शिवलोक-गमन 12 अक्टूबर 1927 ई० को बंगाल के वरानगर के गंगातीर पर हो गया। विस्तृत जीवनगाथा हेतु आर्यशास्त्र प्रदीप, द्वितीय खण्ड का अवलोकन किया जा सकता है।

इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में अधिक कहने का अधिकार नहीं है, क्योंकि प्रज्ञालोक की जिस छटा में प्रत्यक्ष सूक्ष्म ज्ञान के आधार पर इस ग्रन्थ का ग्रन्थन हुआ है, वह आलोचना, समालोचना, प्रशंसा आदि की सीमा से परे का क्षेत्र है। 'आखिन की देखी' को कौन झुठला सकता है? वह भी ऐसी आँखें, जिनके सम्बन्ध में श्रुति कहती है—"दिवीव चक्षुराततम् सदा पश्यन्ति सूरयः" सूरीजन अहर्निश निर्निमेष नेत्रों से उस परम सत्य को निहारते रहते हैं, यह उसी परम सत्य का वाङ्मय स्वरूप है। स्तुति-निन्दा से परे हैं?

ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ के चार खण्डों का उल्लेख किया है, परन्तु एशियाटिक सोसायटी तथा बंगाल के अनेक पुस्तकालयों में खोज करने पर भी इसके चतुर्थ खण्ड का सन्धान नहीं मिला। अतएव तीन खण्डों का ही अनुवाद प्रस्तुत है।

अध्यात्मपरक साहित्य

परलोक तत्त्व	भार्गव शिवरामकिंकर योगत्रयानन्द
मानव-तत्त्व तथा वर्ण विवेक	भार्गव शिवरामकिंकर योगत्रयानन्द
योगिराजाधिराज श्री श्री विशुद्धानन्द परमहंस	अक्षयकुमारदत्त गुप्त कविरत्न
सूर्य विज्ञान प्रणेता योगिराजाधिराज स्वामी विशुद्धानन्द परमहंसदेव : जीवन और दर्शन	नन्दलाल गुप्त
तत्त्वानुभूति	पं० गोपीनाथ कविराज
सूर्यविज्ञान	पं० गोपीनाथ कविराज
साधना पथ	पं० गोपीनाथ कविराज
साधु दर्शन एवं सत्प्रसंग (खण्ड 1 से 4)	पं० गोपीनाथ कविराज
मनीषी की लोकयात्रा (पं० गोपीनाथ कविराज का जीवन दर्शन)	डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह
जपसूत्रम् (प्रथम व द्वितीय खण्ड)	स्वामी श्री प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती
अतीन्द्रिय लोक	गोविंद प्रसाद श्रीवास्तव
भारत के महान योगी (14 भाग, 7 जिल्द)	विश्वनाथ मुखर्जी
भारत की महान साधिकाएँ	विश्वनाथ मुखर्जी
कुण्डलिनी शक्तियोग तथा समाधि एवं मोक्ष	डॉ० दिनेशकुमार अग्रवाल
ब्रह्मर्षि देवराहा-दर्शन	डॉ० अर्जुन तिवारी
श्री श्री सिद्धिमाता	राजबाला देवी
प्रकाश-पथ का यात्री (एक सिद्ध योगी की आत्मकथा)	योगेश्वर
अघोर पंथ और संत कीनाराम	डॉ० सुशीला मिश्र
शिवस्वरूप बाबा हैड़ाखान	सद्गुरुप्रसाद श्रीवास्तव
बाबा नीब करौरी के अलौकिक प्रसंग	बच्चन सिंह
सोमबारी महाराज (उत्तराखण्ड की अनन्य विभूति)	हरिश्चन्द्र मिश्र
साधना और सिद्धि (योग से आरोग्य)	डॉ० कपिलदेव द्विवेदी
योग वासिष्ठ की सात कहानियाँ	भरत झुनझुनवाला

विश्वविद्यालय प्रकाशन
पो०बॉ० 1149, विशालाक्षी भवन,
चौक, वाराणसी - 221001
Phone & Fax : (0542) 2413741, 2413082
e-mail : sales@vvpbooks.com

ISBN:978-81-7124-729-5
Rs. 60
9 788171 247295 00060
www.vvpbooks.com